

गुणस्थान-प्रवेशिका

लेखक व सम्पादक :
ब्र. यशपाल जैन
एम.ए., जयपुर

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५
फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८,
फैक्स : २७०४१२७, E-mail : pstjaipur@yahoo.com

● प्रथम चार संस्करण	:	४,०००
संशोधित संवर्धित पाँचवा संस्करण	:	२,०००
(२६ जनवरी, २०१३)		

:	६,०००
---	-------

अनुक्रमणिका

● प्रकाशकीय	३
● मनोगत	४
● गुणस्थान-प्रवेशिका पुनः क्यों?	६
● टोडरमल जैन मुक्त विद्यापीठ	७
● शास्त्राभ्यास से लाभ	८
पहला अध्याय	
सम्यग्ज्ञानचंद्रिका-पीठिका	९
दूसरा अध्याय	
महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	३०
तीसरा अध्याय	
● गुणस्थान भूमिका	५८
● मिथ्यात्व	६०
● सासादन	६२
● सम्यग्मिथ्यात्व	६४
● अविरतसम्यक्त्व	६५
● देशविरत	६८
● प्रमत्तविरत	७१
● अप्रमत्तविरत	७३
● अपूर्वकरण	७६
● अनिवृत्तिकरण	७८
● सूक्ष्मसाम्पराय	८०
● उपशान्तमोह	८२
● क्षीणमोह	८४
● सयोगकेवली	८६
● अयोगकेवली	८८
● गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान	८९
● गुणस्थानों से गमनागमन	९०
● शास्त्राभ्यास से लाभ	९१

मूल्य : १० रुपये

टाइप सैटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स

ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

'गुणस्थान-प्रवेशिका' का पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

ट्रस्ट की ओर से प्रतिवर्ष जयपुर में आयोजित होनेवाले पंद्रह दिवसीय आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर करणानुयोग संबंधी प्रारम्भिक ज्ञान कराने हेतु गोम्मटसार के गुणस्थान प्रकरण की कक्षा ब्र. यशपालजी जैन द्वारा ली जाती थी। उस समय कक्षा में बैठनेवाले भाइयों को इस विषय को समझने में जो बाधाएँ आती थीं, वे मुख्यतः करणानुयोग की पारिभाषिक शब्दावली से संबंधित रहती थीं।

अतः ब्र. यशपालजी ने गुणस्थान प्रकरण को समझने के लिए आवश्यक शब्दों की परिभाषाओं को विभिन्न ग्रंथों से प्रश्नोत्तरों के रूप में संकलित कर इस पुस्तक को संपादित किया है।

इस पुस्तक में चारों अनुयोगों के तुलनात्मक अध्ययन के साथ करणानुयोग के अध्ययन की प्रेरणा प्रदान करने हेतु आचार्यकल्प पण्डित-प्रवर टोडरमलजी द्वारा लिखित गोम्मटसार की पीठिका 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका' का विशिष्ट अंश प्रारंभ में दिया गया है। अंत में चौदह गुणस्थानों का क्रमशः स्वरूप स्पष्ट किया गया है। गुणस्थानों के स्वरूप के साथ प्रत्येक गुणस्थान संबंधी अन्य और आवश्यक जानकारी अनेक ग्रंथों से संकलित की गयी है।

ब्र. यशपालजी चारों अनुयोगों के संतुलित अध्येता एवं वैराग्य-रस से भीगे हृदयवाले आत्मार्थी विद्वान् हैं। टोडरमल स्मारक भवन में संचालित होने वाली प्रत्येक गतिविधि में आपका सक्रिय योगदान रहता है। ट्रस्ट के अनुरोध से आप बारम्बार प्रवचनार्थ भी जाते रहते हैं।

आपने गोम्मटसार जीवकाण्ड की टोडरमलजी रचित (सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका) टीका का सम्पादन का कार्य अत्यन्त श्रम एवं एकाग्रतापूर्वक किया है तथा इस संपादन कार्य से प्राप्त अनुभव का भरपूर उपयोग करते हुए प्रस्तुत कृति का संकलन एवं सम्पादन किया है; अतः ट्रस्ट आपका हार्दिक आभारी है।

इस पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है एवं इस पुस्तक का कंपोजिंग का कार्य श्री कैलाशचन्द्रजी शर्मा ने किया है, अतः वे दोनों बधाई के पात्र हैं। पुस्तक आप सभी आत्मार्थियों को कल्याणकारी हो हू इसी भावना के साथ। **डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**

महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

मनोगत

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की ओर से प्रतिवर्ष आयोजित पंद्रह दिवसीय आध्यात्मिक शिक्षण शिविर के अवसर पर 'गुणस्थान' विषय पर कक्षा लेने का सौभाग्य मुझे मिलता रहा है। साथ ही इन्दौर, पिडावा, भोपाल, सागर, देवलाली, सेलू आदि अनेक स्थानों पर भी इस विषय की कक्षाएँ मैंने ली हैं। इन कक्षाओं में अभ्यासियों के सामने इस क्लिष्ट विषय को समझने के लिए जो कठिनाइयाँ आती थीं, उन्हें दूर करने के लिए ही इस कृति को तैयार करने का मानस बना।

गुणस्थान-प्रवेशिका में तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में पण्डित टोडरमजी द्वारा लिखित गोम्मटसार की टीका 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका' की पीठिका है। दूसरे अध्याय में गुणस्थान प्रकरण और करणानुयोग को समझने में उपयोगी महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हैं और तीसरे अध्याय में चौदह गुणस्थानों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन है।

पीठिका हूँ इस प्रवेशिका का मूल उद्देश्य गुणस्थानों का परिचय कराना ही है; किन्तु गुणस्थानों के अध्ययन की प्रेरणा प्रदान करने के लिए यह पीठिका प्रारंभ में ही दी गयी है।

मैंने पहले सोचा था कि स्वाध्यायप्रेमी बन्धुओं को चारों अनुयोगों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि प्रदान करने के लिए कुछ लिखूँ और पुष्टि में पण्डित टोडरमलजी को प्रस्तुत करूँ। इसके लिए थोड़ा-बहुत लिखने का प्रयास भी किया, लेकिन संतोष नहीं हुआ। अन्त में पण्डित टोडरमलजी की पीठिका का यह विशिष्ट अंश समग्र रूप में देना ही उचित प्रतीत हुआ; क्योंकि पण्डितजी अनेक सदियों से समस्त दिगंबर जैन समाज के विशेष श्रद्धा पात्र हैं। यह पीठिका चारों अनुयोगों के अध्ययन की यथार्थ दृष्टि प्रदान करने का महान पवित्र कार्य करती है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हूँ पीठिका को पढ़ने के पश्चात् करणानुयोग के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होना स्वाभाविक है। अन्य तीन अनुयोगों के लिए बुद्धि के श्रम की खास आवश्यकता नहीं है; लेकिन करणानुयोग के अध्ययन हेतु विशेष बुद्धि और श्रम भी आवश्यक है। इसीलिए पण्डितजी ने पीठिका में करणानुयोग के पक्षपाती का निराकरण नहीं किया है; क्योंकि इस अनुयोग के पक्षपाती मिलना प्रायः दुर्लभ हैं।

गुणस्थान के अध्ययन में सुविधा हेतु करणानुयोग के कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः इनका यहाँ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से ज्ञान कराया

गया है। जो उनका अध्ययन कर इन्हें याद रखेंगे, वे ही गुणस्थान प्रकरण को सरलता से समझ सकेंगे और उन्हें केवली भगवान, उनका केवलज्ञान तथा उनकी वाणी - जिनवाणी की महिमा आये बिना नहीं रहेगी।

'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' मूल ग्रन्थ तथा उसका हिन्दी अनुवाद, 'तत्त्वार्थ-सूत्र', पण्डित गोपालदासजी बरैया कृत 'जैनसिद्धान्त-प्रवेशिका', पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस द्वारा लिखित 'करणानुयोग प्रवेशिका' आदि ग्रन्थों से ये महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर संकलित किये गये हैं, उसमें अपने मन से कुछ भी नहीं लिखा है।

गुणस्थान प्रकरण हूँ प्रश्नोत्तरों का अच्छी तरह से अध्ययन करने के पश्चात् गुणस्थान का प्रकरण निश्चित ही सरलता से समझ में आयेगा। फिर भी यदि किसी की शिकायत बनी रहती है, तो महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर के अध्ययन का अनुरोध है, प्रश्नोत्तर के अध्ययन से निश्चित ही उनकी शिकायत दूर हो जायेगी।

प्रत्येक गुणस्थान के समग्र विशेष ज्ञान हेतु परिभाषा, शब्दार्थ, सम्यक्त्व, चारित्र, काल, गमनागमन, विशेषता हूँ इन बिन्दुओं के द्वारा प्रत्येक गुणस्थान का संक्षिप्त तथापि सम्पूर्ण विवेचन किया गया है।

गमनागमन, काल इत्यादि विषयक कथन आज्ञा-प्रधान, तर्क-अगोचर हैं; क्योंकि करणानुयोग को अहेतुवाद आगम कहा है। अतः इस संबंध में कोई शंका हो, तो पाठकों से मूलग्रन्थों के क्रमशः अध्ययन का अनुरोध है।

इस प्रकरण के संकलन में गोम्मटसार जीवकाण्ड का उपयोग तो किया ही है, क्योंकि उसी को पढ़ाने का मूल उद्देश्य रहा है। साथ ही गुणस्थान दर्पण, धवला पुस्तकों का भी उपयोग किया गया है।

आशा है कि यह संवर्धित-संशोधित गुणस्थान-प्रवेशिका पाठकों को उपयोगी सिद्ध होगी। यदि जिज्ञासुओं को करणानुयोग में प्रवेश हेतु यह संकलन सहायक सिद्ध हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

हूँ ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

गुणस्थान-प्रवेशिका

पुनः क्यों ?

श्री टोडरमल स्मारक में प्रतिवर्ष अगस्त एवं अक्टूबर माह में लगनेवाले शिविरों के शिविरार्थियों को यह भलीभाँति जानकारी में है कि शिविरों में दोपहर को गुणस्थान-प्रवेशिका की कक्षा लगती है। गुणस्थान-प्रवेशिका चार संस्करण के रूप में अभी तक बारह हजार ५०० की संख्या में समाज में पहुँच चुकी हैं। तदनन्तर गुणस्थान-प्रवेशिका का थोड़ा विस्तार हुआ और वह गुणस्थान-विवेचन में परिवर्तित हो गयी। जब गुणस्थान-विवेचन भी ७ संस्करणों के रूप में अभी तक १७ हजार की संख्या में छप चुकी है। तब फिर से गुणस्थान-प्रवेशिका क्यों छप रही है ? ऐसा प्रश्न मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

गुणस्थान-विवेचन श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के शास्त्री प्रथम वर्ष के कोर्स में अनेक वर्षों से वर्ष भर पढाया जाता है। शास्त्री बननेवालों के लिए यह विषय अनिवार्य हो गया है; यह उचित भी है।

टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा २००७ में मुक्त विद्यापीठ का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसकी मुख्यरूप से जिम्मेदारी श्री पीयूषजी शास्त्री देखते हैं। इस मुक्त विद्यापीठ का शास्त्री का कोर्स तीन वर्ष का है। शास्त्री प्रथम वर्ष में गुणस्थान का अध्ययन कराने का निर्णय हुआ। मुक्त विद्यापीठ के शास्त्री प्रथम वर्ष के कोर्स में गुणस्थान-विवेचन का विषय कठिन प्रतीत हुआ। इसलिए मुक्त विद्यापीठ के विद्यार्थियों के अध्ययन में अनुकूलता रहे ह इसी भावना से गुणस्थान-प्रवेशिका की आवश्यकता लगी। इसलिए ही फिर से गुणस्थान-प्रवेशिका का प्रकाशन हो रहा है।

मुक्त विद्यापीठ का परिचय स्वतंत्ररूप से दिया जा रहा है। अब चौथी बार प्रकाशित गुणस्थान-प्रवेशिका को ही संशोधित-संवर्धित करके पुनः पाँचवीं बार प्रकाशित होते हुए जानकर हमें हार्दिक आनंद हो रहा है।

इस संस्करण में चौथे संस्करण की अपेक्षा महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर विभाग में कुछ प्रश्नोत्तर बढ़ा दिए हैं। साथ ही साथ गुणस्थान अध्याय में भी गुणस्थान-विवेचन से महत्वपूर्ण विभाग जोड़ा है एवं जो विषय अधिक महत्वपूर्ण नहीं था, उसे हटा दिया गया है। हमें विश्वास है कि मुमुक्षु समाज एवं मुक्त विद्यापीठ के विद्यार्थी भी इस कृति का लाभ लेते हुए अपने ज्ञान में निर्मलता ला सकेंगे तथा मोक्षमार्ग की प्राप्ति में भी यह कृति अनुकूल सिद्ध होगी ह इसी आशा है।

ह्र. ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड द्वारा संचालित श्री टोडरमल जैन मुक्त विद्यापीठ

परिचय

व्यक्तित्व विकास में आध्यात्मिक शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय आध्यात्मिक शिक्षा को समर्पित एक अनूठा संस्थान है। समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्य इस महाविद्यालय में संचालित शिक्षा का लाभ लेना चाहते हैं; किन्तु वे अनेक विवशताओं के कारण नियमित छात्र के रूप में अध्ययन नहीं कर पाते हैं। अतः क्षेत्र व काल की बाधा को दूर कर जैन तत्त्वज्ञान को आधिकारिक रूप से जन-जन तक पहुँचाने के लिए मुक्त विश्वविद्यालयों की तर्ज पर श्री टोडरमल जैन मुक्त विद्यापीठ की स्थापना की गई है।

विश्वविद्यालयों में निर्धारित जैनदर्शन विषय सहित शास्त्री की शिक्षा प्राप्त करने हेतु लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत संस्कृत और कला संकाय के पारंपरिक विषयों का अध्ययन करना भी अनिवार्य होता है, अतः जिज्ञासु होने पर भी खासकर महिला वर्ग व्यवस्था के अभाव में इसप्रकार के अध्ययन से वंचित रह जाता है। यह मुक्त विद्यापीठ इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए समर्पित है। यह मुक्त विद्यापीठ संस्था संस्कृत आदि की अनिवार्यता के बिना किसी भी जाति, उम्र, वर्ग के लिए जैनतत्त्व विद्या के प्रचार-प्रसार हेतु कटिबद्ध है। इस विद्यापीठ द्वारा जैनधर्म के सम्पूर्ण अध्ययन को ध्यान में रखते हुए द्विवर्षीय विशारद एवं उसके पश्चात् त्रिवर्षीय सिद्धान्त विशारद इसप्रकार २ पाठ्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है।

२००७ से प्रारंभ इस मुक्त विद्यापीठ में अभी देश-विदेश के कुल १६२५ विद्यार्थी नामांकित हो चुके हैं, जिनमें से ३७० छात्रों ने द्विवर्षीय विशारद परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है एवं २५९ छात्र अध्ययनरत हैं।

त्रिवर्षीय सिद्धान्त विशारद के अभी तक कुल ४२ विद्यार्थी उत्तीर्ण हो चुके हैं एवं ३८३ छात्र अध्ययनरत हैं।

इसप्रकार अब आप घर बैठे ही मुक्त विद्यापीठ के अंतर्गत जैनधर्म का व्यवस्थित अध्ययन कर सकते हैं।

मुक्त विद्यापीठ की विस्तृत जानकारी और प्रवेश फार्म मँगाने हेतु संपर्क करें ह

श्री टोडरमल जैन मुक्त विद्यापीठ

श्री टोडरमल स्मारक भवन

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

शास्त्राभ्यास से लाभ

१. ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
२. ज्ञान से ही कषायों का अभाव हो जाता है।
३. ज्ञानाभ्यास से माया, मिथ्यात्व, निदान हूँ इन तीन शक्तियों का नाश होता है।
४. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
५. ज्ञान से ही अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
६. ज्ञानाभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
७. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
८. ज्ञान से ही जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।
९. ज्ञान से ही जिनधर्म की प्रभावना होती है।
१०. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप कर्म का ऋण नष्ट हो जाता है।
११. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
१२. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१३. ज्ञानाभ्यास/शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१४. ज्ञान से ही भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१५. ज्ञान से ही परमार्थ और व्यवहार दोनों व्यक्त होते हैं।
१६. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१७. ज्ञान ही दुःखित जीव को सदा शरण अर्थात् आधार है।
१८. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१९. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोसनेवाला खोस नहीं सकता।
२०. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान निरन्तर बढ़ता ही जाता है।
२२. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना)



अध्याय पहला

सम्यग्ज्ञानचंद्रिका-पीठिका

(दोहा)

वन्दौं ज्ञानानन्द-कर, नेमिचन्द्र गुणकंद।
माधव-वन्दित विमल पद, पुण्य पयोनिधि नंद ॥१॥
दोष दहन गुण गहन घन, अरि करि हरि अरहंत।
स्वानुभूति-रमनी-रमन, जग-नायक जयवंत ॥२॥
सिद्ध शुद्ध साधित सहज, स्वरस सुधारस धार।
समयसार शिव सर्वगत, नमत होऊ सुखकार ॥३॥
जैनी बानी विविध विधि, वरनत विश्व प्रमान।
स्यात्पद मुद्रित अहितहर, करहु सकल कल्याण ॥४॥
मैं नमो नगन जैन जन, ज्ञान-ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन ॥५॥
इह विधि मंगल करन तैं, सब विधि मंगल होत।
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यों भानु उद्योत ॥६॥

अब मंगलाचरण करके श्रीमद् गोम्मटसार, जिसका अपर नाम पंचसंग्रह ग्रन्थ, उसकी देशभाषामय टीका करने का उद्यम करता हूँ। यह ग्रन्थ-समुद्र तो ऐसा है, जिसमें सातिशय बुद्धि-बल युक्त जीवों का भी प्रवेश होना दुर्लभ है और मैं मंदबुद्धि (इस ग्रन्थ का) अर्थ प्रकाशनेरूप इसकी टीका करने का विचार कर रहा हूँ।

यह विचार तो ऐसा हुआ, जैसे कोई अपने मुख से जिनेन्द्रदेव के सर्व गुणों का वर्णन करना चाहे, किन्तु वह कैसे बने ?

१. प्रश्न : नहीं बनता है तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उत्तर : जैसे जिनेन्द्रदेव के सर्व गुणों का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है; फिर भी भक्त पुरुष भक्ति के वश होकर अपनी बुद्धि के अनुसार गुण-वर्णन करता है; उसीप्रकार इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण अर्थ का प्रकाशन करने की सामर्थ्य न होने पर भी अनुराग के वश मैं अपनी बुद्धि-अनुसार (गुण) अर्थ का प्रकाशन करूँगा।

२. प्रश्न : यदि अनुराग है, तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रन्थाभ्यास करो; किन्तु मंदबुद्धिवालों को तो टीका करने का अधिकारी होना उचित नहीं है ?

उत्तर : जैसे किसी पाठशाला में बहुत बालक पढ़ते हैं, उनमें कोई बालक विशेष ज्ञान रहित है; फिर भी अन्य बालकों से अधिक पढ़ा है, तो वह अपने से अल्प पढ़नेवाले बालकों को अपने समान ज्ञान होने के लिये कुछ लिख देने आदि के कार्य का अधिकारी होता है। उसीप्रकार मुझे विशेष ज्ञान नहीं है; फिर भी कालदोष से मुझ से भी मंद बुद्धिवाले हैं और होंगे ही, उन्हीं के लिये मुझ समान इस ग्रन्थ का ज्ञान होने के लिये टीका करने का अधिकारी हुआ हूँ।

३. प्रश्न : यह कार्य करना है हूँ ऐसा तो आपने विचार किया; किन्तु जिसप्रकार छोटा मनुष्य बड़ा कार्य करने का विचार करे, तो वहाँ पर उस कार्य में गलती होती ही है और वहाँ वह हास्य का स्थान बन जाता है। उसीप्रकार आप भी मंदबुद्धिवाले होकर इस ग्रन्थ की टीका करने का विचार कर रहे हैं, तो गलती होगी ही और वहाँ हास्य का स्थान बन जायेंगे।

उत्तर : यह बात सत्य है कि मैं मंदबुद्धि होने पर भी ऐसे महान् ग्रन्थ की टीका करने का विचार कर रहा हूँ। वहाँ भूल तो हो सकती है; किन्तु सज्जन हास्य नहीं करेंगे।

जिसप्रकार दूसरे बालकों से अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करे, तब बड़े जन ऐसा विचार करते हैं कि बालक है भूल करे ही करे; किन्तु अन्य बालकों से भला है, इसप्रकार विचार कर वे हास्य नहीं करेंगे।

उसीप्रकार मैं यहाँ कहीं भूल जाऊँ तो वहाँ सज्जन पुरुष ऐसा विचार करेंगे कि वह मंदबुद्धि था, सो भूले ही भूले; किन्तु कितने ही अतिमंदबुद्धिवालों से तो भला ही है हूँ ऐसा विचार कर हास्य नहीं करेंगे।

४. प्रश्न : सज्जन तो हास्य नहीं करेंगे; किन्तु दुर्जन तो करेंगे ही ?

उत्तर : दुष्ट तो ऐसे ही होते हैं, जिनके हृदय में दूसरों के निर्दोष/भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं; किन्तु उनके भय से जिसमें अपना हित हो, ऐसे कार्य को कौन नहीं करेगा ?

५. प्रश्न : पूर्व ग्रन्थ तो हैं ही, उन्हीं का अभ्यास करने-कराने से ही हित होता है; मंदबुद्धि से ग्रन्थ की टीका करने की महंतता क्यों प्रगट करते हो ?

उत्तर : ग्रन्थ का अभ्यास करने से ग्रन्थ की टीका रचना करने में उपयोग विशेष लग जाता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभास में आता है। अन्य जीवों को ग्रन्थाभ्यास कराने का संयोग होना दुर्लभ है और संयोग होने पर भी किसी जीव को ही अभ्यास होता है। ग्रन्थ की टीका बनने से तो परम्परागत अनेक जीवों को अर्थ का ज्ञान होगा। इसलिये अपना और अन्य जीवों का विशेष हित होने के लिये टीका करते हैं; महंतता का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

६. प्रश्न : यह सत्य है कि इस कार्य में विशेष हित होता है; किन्तु बुद्धि की मंदता से कहीं भूल से अन्यथा अर्थ लिखा जाय, तो वहाँ महापाप की उत्पत्ति होने से अहित भी होगा ?

उत्तर : यथार्थ सर्व पदार्थों के ज्ञाता तो केवली भगवान हैं, दूसरों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान है, उनको कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभासे; किन्तु जिनदेव का ऐसा उपदेश है हूँ

“कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वचन की प्रतीति से व हठ से व क्रोध,

मान, माया, लोभ से व हास्य-भयादिक से यदि अन्यथा श्रद्धा करे व उपदेश दे, तो वह महापापी है तथा विशेष ज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना व अपने विशेष क्षयोपशम बिना कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और वह ऐसा जाने कि जिनदेव का उपदेश ऐसा ही है ह् ऐसा जानकर कोई सूक्ष्म अर्थ की श्रद्धा करे व उपदेश दे, तो उसको महत् पाप नहीं होता। वही इस गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में भी आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने कहा है ह्

सम्माइट्टी जीवो, उवइट्टं पवयणं तु सदहदि ।

सदहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥

७. प्रश्न : आपने विशेष ज्ञानी से ग्रन्थ का यथार्थ सर्व अर्थ का निर्णय करके टीका करने का प्रारम्भ क्यों नहीं किया ?

उत्तर : कालदोष से केवली-श्रुतकेवली का तो यहाँ अभाव ही है और विशेष ज्ञानी भी विरले ही मिलते हैं। जो कोई हैं, वे तो दूर क्षेत्र में हैं, उनका संयोग दुर्लभ है और आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गये हैं। इसलिये जितना हो सका, उतने अर्थ का निर्णय किया; अवशेष जैसे हैं, तैसे प्रमाण हैं।

८. प्रश्न : आपने कहा वह सत्य है; किन्तु इस ग्रन्थ में जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का क्या कुछ उपाय भी है ?

उत्तर : एक उपाय यह करते हैं ह् ज्ञानी पुरुषों का प्रत्यक्ष तो संयोग नहीं है; इसलिये उनको परोक्ष ही ऐसी विनती करता हूँ कि “मैं मन्दबुद्धि हूँ, विशेष ज्ञान रहित हूँ, अविवेकी हूँ; शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रन्थों का विशेष अभ्यास मुझे नहीं है; अतः मैं शक्तिहीन हूँ; फिर भी धर्मानुराग के वश होकर टीका करने का विचार किया है; उसमें जहाँ-कहीं भूल हो जाय, अन्यथा अर्थ हो जाय, वहाँ मेरे ऊपर क्षमा करके उस अन्यथा अर्थ को दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना। इसप्रकार विनती करके जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का उपाय किया है।

९. प्रश्न : आपने टीका करने का विचार किया, यह तो अच्छा

किया है; किन्तु ऐसे महान् ग्रन्थ की टीका संस्कृत में ही चाहिये, भाषा में तो उसकी गम्भीरता भासित नहीं होगी।

उत्तर : इस ग्रन्थ की ‘जीवतत्त्वप्रदीपिका’ नामक संस्कृत टीका तो पूर्व में है ही; किन्तु वहाँ संस्कृत, गणित, आम्नाय आदि के ज्ञान रहित जो मन्दबुद्धि हैं, उनका प्रवेश नहीं होता है। यहाँ काल-दोष से बुद्धि आदि के तुच्छ होने से संस्कृतादि के ज्ञानरहित जीव बहुत हैं, उन्हीं को इस ग्रन्थ के अर्थ का ज्ञान कराने के लिये भाषा टीका करता हूँ। अतः जो जीव संस्कृतादि सहित विशेष ज्ञानवान हैं, वे मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका से अर्थ धारण करें। जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानरहित हैं, वे भाषा टीका से अर्थ ग्रहण करें और जो जीव संस्कृतादि ज्ञानसहित हैं; परन्तु गणित-आम्नायादिक के ज्ञान के अभाव से मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका में प्रवेश नहीं पा सकते हैं, वे इस भाषा टीका से अर्थ को धारण करके मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका में प्रवेश करें तथा जो भाषा टीका से मूल ग्रन्थ व संस्कृत टीका से अधिक अर्थ हो सके, उसको जानने का अन्य उपाय बने वह करें।

१०. प्रश्न : संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा अभ्यास में अधिकार नहीं है।

उत्तर : संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा बांचने से तो कोई दोष आते नहीं हैं, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो वैसे ही करना। पूर्व में अर्धमागधी आदि भाषामय महाग्रन्थ थे। जब जीवों की बुद्धि की मन्दता हुई तब संस्कृतादि भाषामय ग्रन्थ बने। अब जीवों की बुद्धि की विशेष मन्दता हुई, उससे देशभाषामय ग्रन्थ करने का विचार हुआ। संस्कृतादि ग्रन्थ का अर्थ भी भाषा द्वारा ही जीवों को समझाते हैं। यहाँ भाषा द्वारा ही अर्थ लिखने में आया तो कुछ दोष नहीं है।

इसप्रकार विचार कर श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रन्थ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार ‘सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका’ नामक यह देशभाषामयी टीका करने का निश्चय किया है।

श्री अरहन्तदेव, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रसाद से तथा मूलग्रन्थकर्ता श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों के प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो।

अब इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख करते हैं ह

हे भव्य जीव ! तुम अपने हित की वांछा करते हो, तो तुमको जिसप्रकार हित बने उसप्रकार ही इस शास्त्र का अभ्यास करना।

आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष बिना अन्य जो है, वह परसंयोगजनित है, विनाशीक है, दुःखमय है और मोक्ष ही निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंत सुखमय है। इसलिए तुम्हें मोक्षपद की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

मोक्ष के उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं। इनकी प्राप्ति जीवादिक का स्वरूप जानने से ही होती है; उसे कहता हूँ ह

जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूल के समान है। प्रथम जाने, फिर वैसी ही प्रतीति करने से श्रद्धान को प्राप्त होता है। इसलिये जीवादिक का जानना, श्रद्धान होने से पूर्व ही होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारणरूप जानना।

श्रद्धान होने पर जो जीवादिक का जानना होता है, उसीका नाम सम्यग्ज्ञान है।

श्रद्धानपूर्वक जीवादि को जानते ही जीव स्वयमेव उदासीन होकर हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्चारित्र होता है; अज्ञानपूर्वक क्रियाकाण्ड से सम्यक्चारित्र नहीं होता है।

इसप्रकार जीवादिक को जानने से ही सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपाय की प्राप्ति होती है ह ऐसा निश्चय करना चाहिए। इस शास्त्र के अभ्यास से जीवादि का जानना यथार्थ होता है। जो संसार है, वह जीव और कर्म का सम्बन्धरूप है तथा विशेष जानने से इनके सम्बन्ध का अभाव होता है, वही मोक्ष है। इसलिये इस शास्त्र में जीव और कर्म का ही विशेष निरूपण है। अथवा जीवादिक षट् द्रव्य, सप्त तत्त्वादिक का भी इसमें यथार्थ निरूपण है, अतः इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

अब यहाँ अनेक जीव इस शास्त्र के अभ्यास में अरुचि होने के कारण

विपरीत विचार प्रगट करते हैं। उनको समझाते हैं ह

अनेक जीव केवल प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का ही पक्ष करके इस करणानुयोगरूप शास्त्र के अभ्यास का निषेध करते हैं।

११. प्रश्न : उनमें से प्रथमानुयोग का पक्षपाती कहता है कि वर्तमान में जीवों की बुद्धि बहुत मंद है, उनको ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्र में कुछ भी समझ में नहीं आता; इसलिये तीर्थकरादिक की कथा का उपदेश दिया जाय तो ठीक से समझ लें और समझकर पाप से डरकर धर्मानुरागरूप हों; इसलिये प्रथमानुयोग का उपदेश कार्यकारी है।

उत्तर : अभी सर्व जीव तो एक से नहीं हैं, हीनाधिक बुद्धि दिख रही है; अतः जैसा जीव हो, वैसा उपदेश देना। अथवा मंदबुद्धि जीव भी सिखाने से, अभ्यास करने से बुद्धिमान होते दिखाई दे रहे हैं। इसलिए जो बुद्धिमान हैं, उनको तो यह ग्रन्थ कार्यकारी है ही और जो मन्दबुद्धि हैं, वे विशेषबुद्धिवालों द्वारा सामान्य-विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप सीखकर इस शास्त्र के अभ्यास में प्रवर्तन करें।

१२. प्रश्न : यहाँ मंदबुद्धिवाला कहता है कि यह गोम्मटसार शास्त्र तो गणित समस्या का वर्णन करनेवाला अनेक अपूर्व कथन सहित होने से बहुत कठिन है, ऐसा सुनते आये हैं। हम उसमें किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं ?

उत्तर : भय न करो। इस भाषा टीका में गणित आदि का अर्थ सुगमरूप बनाकर कहा है; अतः प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा। इस शास्त्र में कथन कहीं तो सामान्य है, कहीं विशेष है, कहीं सुगम है; कहीं कठिन है। वहाँ यदि सर्व अभ्यास बन सके, तो अच्छा ही है और यदि न बन सके तो अपनी बुद्धि के अनुसार जितना हो सके, उतना ही अभ्यास करो, अपने उपाय में आलस्य नहीं करना।

तूने कहा ह जीव प्रथमानुयोग सम्बन्धी कथादिक सुनने से पाप से डरकर धर्मानुरागरूप होता है।

वहाँ दोनों कार्य ह पाप से डरना और धर्मानुरागरूप होना शिथिलता

लिये होते हैं। यहाँ पुण्य-पाप के कारण-कार्यादिक विशेष जानने से वे दोनों कार्य दृढ़ता लिये होते हैं। अतः इसका अभ्यास करना। इसप्रकार प्रथमानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

१३. प्रश्न : अब चरणानुयोग का पक्षपाती कहता है कि जो इस शास्त्र में कथित जीव-कर्म का स्वरूप है, वह जैसा है, वैसा ही है, उसको जानने से क्या सिद्धी होती है ? यदि हिंसादिक का त्याग करके व्रतों का पालन किया जाय, उपवासादिक तप किये जायें, अरहन्तादिक की पूजा, नामस्मरण आदि भक्ति की जाय, दान दिया जायें, विषय-कषायादिक से उदासीन होना इत्यादिक जो शुभ कार्य किये जायें, तो आत्महित हो; इसलिये उनका प्ररूपक चरणानुयोग का उपदेश करना चाहिए।

उत्तर : उसको कहते हैं कि ह्र हे स्थूलबुद्धि ! तूने व्रतादि शुभ कार्य कहे, वे करनेयोग्य ही हैं; किन्तु वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं जैसे अंक बिना बिंदी। जीवादिक का स्वरूप जाने बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है जैसे बाँझ का पुत्र। अतः जीवादिक का स्वरूप जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। तथा तूने जिसप्रकार व्रतादिक शुभ कार्य कहे और उनसे पुण्यबंध होता है; ऐसा कहा वह तो ठीक है, उसीप्रकार जीवादिक का स्वरूप जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है, वह भी सबसे बड़ा प्रधान शुभ कार्य है। इसी से सातिशय पुण्यबन्ध होता है और उन व्रतादिक में भी ज्ञानाभ्यास की ही मुख्यता है, उसे ही कहते हैं ह्र

जो जीव प्रथम, जीवसमासादि विशेष जानकर पश्चात् यथार्थज्ञान करके हिंसादिक का त्यागी बनकर व्रत धारण करे, वही व्रती है। जीवादिक के विशेषों को जाने बिना कुछ हिंसादिक के त्याग से अपने को व्रती माने तो वह व्रती नहीं है। इसलिये व्रत पालन में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

तप दो प्रकार का है ह्र बहिरंग तप और अन्तरंग तप। जिससे शरीर का दमन हो, वह बहिरंग तप है और जिससे मन का दमन हो, वह अन्तरंग तप है; इनमें बहिरंग तप से अन्तरंग तप उत्कृष्ट है। उपवासादिक तो बहिरंग तप हैं, ज्ञानाभ्यास अन्तरंग तप है। सिद्धान्त में भी छह प्रकार के अन्तरंग तपों में

चौथा स्वाध्याय नाम का तप कहा है, उससे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही है; इसलिये तप करने में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

जीवादि के विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप जानने से ही अरहंत आदि का स्वरूप भले प्रकार पहिचाना जाता है तथा अपनी अवस्था पहिचानी जाती है; ऐसी पहिचान होने पर जो अन्तरंग में तीव्र भक्ति प्रगट होती है, वही बहुत कार्यकारी है और जो कुल-क्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचित् मात्र ही फल देती है। इसलिए भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

दान चार प्रकार का है। उनमें आहारदान, औषधिदान, अभयदान तो तात्कालिक क्षुधा के दुःख को या रोग के दुःख को या मरणादिक भय के दुःख को ही दूर करते हैं; किन्तु जो ज्ञानदान है, वह अनन्त भव से चले आ रहे दुःख को दूर करने में कारण है। तीर्थंकर केवली, आचार्यादिक के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति मुख्य है। अतः ज्ञानदान उत्कृष्ट है। इसलिये जिसके ज्ञानाभ्यास हो तो वह अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को भी ज्ञानदान देता है।

ज्ञानाभ्यास के बिना ज्ञानदान देना कैसे हो सकता है ? इसलिये दान में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

जैसे जन्म से ही कोई पुरुष ठगों के घर पहुँच जाय, वहाँ वह ठगों को अपना मानता है। कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान करने से ठगों से अन्तरंग में उदासीन हो जाता है। उनको पर जानकर सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है और कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है; किसी कारण से ठगों से अनुराग करता है और कोई ठगों से लड़कर उदासीन होता है, आहारादिक का त्याग कर देता है।

वैसे ही अनादि से सब जीव संसार को प्राप्त हैं, वहाँ कर्मों को अपना मानते हैं। उनमें से कोई जीव किसी निमित्त से जीव और कर्म का यथार्थ ज्ञान करके कर्मों से उदासीन होकर उनको पर जानने लगा, उनसे सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है, वैसी प्रवृत्ति करता है।

इसप्रकार जो ज्ञानाभ्यास के द्वारा उदासीनता होती है, वही कार्यकारी है। कोई जीव उन कर्मों को अपना जानता है और किसी कारण से कोई शुभ कर्मों से अनुरागरूप प्रवृत्ति करता है, कोई अशुभ कर्म को दुःख का कारण जानकर उदासीन होकर विषयादिक का त्यागी होता है।

इसप्रकार ज्ञान के बिना जो उदासीनता होती है, वह पुण्य-फल की दाता है, मोक्षकार्य को नहीं साधती है। इसलिये उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। इसीप्रकार अन्य भी शुभ कार्यों में ज्ञानाभ्यास को ही प्रधान जानना। देखो ! महामुनियों के भी ध्यान और अध्ययन हू दो ही कार्य मुख्य हैं। इसलिये इस शास्त्र के अध्ययन द्वारा जीव तथा कर्म का स्वरूप जानकर स्वरूप का ध्यान करना।

१४. प्रश्न : यहाँ कोई तर्क करे कि कोई जीव शास्त्र का अध्ययन तो बहुत करता है और विषयादिक का त्यागी नहीं होता, तो उसके शास्त्र का अध्ययन कार्यकारी है या नहीं ? यदि है, तो महन्त पुरुष क्यों विषयादिक तर्जें ? और यदि नहीं तर्जें तो ज्ञानाभ्यास की महिमा कहाँ रही ?

उत्तर : शास्त्राभ्यासी दो प्रकार के हैं, एक लोभार्थी और एक धर्मार्थी।

वहाँ जो जीव अन्तरंग अनुराग के बिना ख्याति, पूजा, लाभादिक के प्रयोजन से शास्त्राभ्यास करे, वह लोभार्थी है; वह विषयादिक का त्याग नहीं करता। अथवा ख्याति, पूजा, लाभादिक के अर्थ विषयादिक का त्याग भी करता है; फिर भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है।

जो जीव अन्तरंग अनुराग से आत्महित के अर्थ शास्त्राभ्यास करता है, वह धर्मार्थी है।

प्रथम तो जैनशास्त्र ही ऐसे हैं कि जो उनका धर्मार्थी होकर अभ्यास करता है, वह विषयादिक का त्याग करता ही करता है; उसका तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है ही।

कदाचित् पूर्व कर्मोदय की प्रबलता से न्यायरूप विषयादिक का त्याग न हो सके, तो भी उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के कारण ज्ञानाभ्यास

कार्यकारी होता है; जिसप्रकार असंयत गुणस्थान में विषयादिक के त्याग बिना भी मोक्षमार्गपना होता है।

१५. प्रश्न : जो धर्मार्थी होकर जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसके विषयादिक का त्याग न हो सके, ऐसा तो नहीं बनता; क्योंकि विषयादिक का सेवन परिणामों से होता है और परिणाम स्वाधीन होते हैं।

उत्तर : परिणाम दो प्रकार के हैं हू एक बुद्धिपूर्वक, एक अबुद्धिपूर्वक। वहाँ जो परिणाम अपने अभिप्राय के अनुसार हों, वे बुद्धिपूर्वक और जो परिणाम दैव (कर्म) निमित्त से अपने अभिप्राय से अन्यथा (विरुद्ध) हों, वे अबुद्धिपूर्वक।

जिसप्रकार सामायिक करते समय धर्मात्मा का अभिप्राय तो ऐसा होता है कि मैं अपने परिणाम शुभरूप रखूँ, वहाँ जो शुभ परिणाम ही हों, वे तो बुद्धिपूर्वक हैं और यदि कर्मोदय से स्वयमेव अशुभ परिणाम हों, वे अबुद्धिपूर्वक जानना।

उसीप्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसका अभिप्राय तो विषयादिक के त्यागरूप वीतरागभाव की प्राप्ति का ही होता है। वहाँ पर वीतरागभाव होता है, वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोह के उदय से (उदय के वश होने पर) सरागभाव होता है, वह अबुद्धिपूर्वक है। अतः स्ववश बिना (परवश) जो सरागभाव होते हैं, उनसे उसकी विषयादिक की प्रवृत्ति दिख रही है; क्योंकि बाह्यप्रवृत्ति का कारण परिणाम है।

१६. प्रश्न : यदि इसीप्रकार है, तो हम भी विषयादिक का सेवन करेंगे और कहेंगे हू हमारे उदयाधीन कार्य होते हैं।

उत्तर : रे मूर्ख ! कहने से तो कुछ होता नहीं, सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार होती है। इसलिए जैनशास्त्रों के अभ्यास के द्वारा अपने अभिप्राय को सम्यक् रूप करना। अन्तरंग में विषयादिक सेवन का अभिप्राय हो, तो धर्मार्थी नाम नहीं पाता। इसप्रकार चरणानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

१७. प्रश्न : अब द्रव्यानुयोग का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र में जीव के गुणस्थानादिरूप विशेष और कर्मों के विशेष (भेद) का वर्णन किया है; किन्तु उनको जानने से तो अनेक विकल्प-तरंग उत्पन्न होते हैं और कुछ सिद्धि नहीं है। इसलिए अपने शुद्धस्वरूप को अनुभवना अथवा स्व-पर का भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है। अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्म शास्त्र हैं, उन्हीं का अभ्यास करना योग्य है।

उत्तर : हे सूक्ष्माभास बुद्धि ! तूने कहा वह सत्य है; किन्तु अपनी अवस्था देखना। यदि स्वरूपानुभव में तथा भेदविज्ञान में उपयोग निरन्तर रहता है, तो अन्य विकल्प क्यों करना ? वहाँ ही स्वरूपानन्द सुधारस का स्वादी होकर सन्तुष्ट होना; किन्तु निचली अवस्था में वहाँ निरन्तर उपयोग रहता ही नहीं, उपयोग अनेक अवलम्बनों को चाहता है। अतः जिस काल वहाँ उपयोग न लगे, तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना।

तथा तूने कहा कि अध्यात्म शास्त्रों का ही अभ्यास करना, सो योग्य ही है; किन्तु वहाँ भेदविज्ञान करने के लिए स्व-पर का सामान्यपने स्वरूप निरूपण है और विशेष ज्ञान बिना सामान्य जानना स्पष्ट नहीं होता। इसलिए जीव और कर्मों के विशेष अच्छी तरह जानने से ही स्व-पर का जानना स्पष्ट होता है। उस विशेष जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास करना; क्योंकि सामान्यशास्त्र से विशेषशास्त्र निश्चय से बलवान होता है, वही कहा है ह सामान्य शास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्।

१८. प्रश्न : अध्यात्मशास्त्रों में तो गुणस्थानादि विशेषों से रहित शुद्धस्वरूप का अनुभव करना उपादेय कहा है और यहाँ गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन है; इसलिए अध्यात्मशास्त्र और इस शास्त्र में तो विरुद्धता भासित होती है, वह कैसे है ?

उत्तर : नय दो प्रकार के हैं ह निश्चयनय और व्यवहारनय।

निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित, अभेदवस्तु मात्र ही है और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेष सहित अनेक प्रकार हैं। वहाँ जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव को अनुभवते हैं,

उनको तो वहाँ शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्धनिश्चयनय है, वही कार्यकारी है।

जो स्वानुभवदशा को प्राप्त नहीं हुए हैं तथा जो स्वानुभवदशा से छूटकर सविकल्पदशा को प्राप्त हुए हैं ह ऐसा अनुत्कृष्ट जो अशुद्धस्वभाव, उसमें स्थित जीवों को व्यवहारनय प्रयोजनवान है। वही अध्यात्मशास्त्र समयसार गाथा-१२ में कहा है ह

सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरसीहिं।

ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे दिठदा भावे ॥

इस गाथा की व्याख्या के अर्थ को विचार कर देखना। सुनो ! तुम्हारे परिणाम स्वरूपानुभव दशा में तो वर्तते नहीं और विकल्प जानकर गुणस्थानादि भेदों का विचार नहीं करोगे तो तुम इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः, होकर अशुभोपयोग में ही प्रवर्तन करोगे, वहाँ तेरा बुरा ही होगा।

और सुनो ! सामान्यपने से तो वेदान्त आदि शास्त्राभासों में भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहते हैं, वहाँ विशेष को जाने बिना यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे हो ?

इसलिये गुणस्थानादि विशेष जानने से जीव की शुद्ध, अशुद्ध एवं मिश्र अवस्था का ज्ञान होता है, तब निर्णय करके यथार्थ को अंगीकार करना। और सुनो ! जीव का गुण ज्ञान है, सो विशेष जानने से आत्मगुण प्रगट होता है, अपना श्रद्धान भी दृढ़ होता है। जैसे सम्यक्त्व है, वह केवलज्ञान प्राप्त होने पर परमावगाढ़ नाम को प्राप्त होता है, इसलिये विशेषों को जानना।

१९. प्रश्न : आपने कहा वह सत्य; किन्तु करणानुयोग द्वारा विशेष जानने से भी द्रव्यलिंगी मुनि अध्यात्म श्रद्धान बिना संसारी ही रहते हैं और अध्यात्म का अनुसरण करनेवाले तिर्यचादिक को अल्प ज्ञान होने पर भी यथार्थ श्रद्धान से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है तथा तुषमाषभिन्नः इतना ही श्रद्धान करने से शिवभूति नामक मुनि मुक्त हुए हैं। अतः हमारी बुद्धि से तो विशेष विकल्पों का साधन नहीं होता। प्रयोजनमात्र अध्यात्म का अभ्यास करेंगे।

उत्तर : द्रव्यलिंगी जिसप्रकार करणानुयोग द्वारा विशेष को जानता है,

उसीप्रकार अध्यात्मशास्त्रों का ज्ञान भी उसको होता है; किन्तु मिथ्यात्व के उदय से (मिथ्यात्व वश) अयथार्थ साधन करता है, तो शास्त्र क्या करें?

शास्त्रों में तो परस्पर विरोध है नहीं, कैसे ? उसे कहते हैं ह

करणानुयोग के शास्त्रों में तथा अध्यात्मशास्त्रों में भी रागादिक भाव, आत्मा के कर्म निमित्त से उत्पन्न कहे हैं; द्रव्यलिंगी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है और शरीराश्रित सर्व शुभाशुभ क्रिया पुद्गलमयी कही है; किन्तु द्रव्यलिंगी उसे अपनी जानकर उसमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है।

सर्व ही शुभाशुभ भाव, आस्रव-बंध के कारण कहे हैं; किन्तु द्रव्यलिंगी शुभभावों को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण मानता है। शुद्धभाव को संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण कहा है; किन्तु द्रव्यलिंगी उसे पहिचानता ही नहीं और (प्रगट) शुद्धात्मस्वरूप को मोक्ष कहा है, उसका द्रव्यलिंगी को यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। इसप्रकार अन्यथा साधन करे, तो उसमें शास्त्रों का क्या दोष है ?

तूने कहा कि तिर्यचादिक को सामान्य श्रद्धान से कार्यसिद्धि हो जाती है। तिर्यचादिक को भी अपने क्षयोपशम के अनुसार विशेष जानना होता ही है। अथवा पूर्व पर्यायों में (पूर्वभव में) विशेष का अभ्यास किया था, उसी संस्कार के बल से (विशेष का जानना) सिद्ध होता है।

जिसप्रकार किसी ने कहीं पर गड़ा हुआ धन पाया, तो हम भी उसी प्रकार पावेंगे; ऐसा मानकर सभी को व्यापारादिक का त्याग करना योग्य नहीं। उसीप्रकार किसी को अल्प श्रद्धान द्वारा ही कार्यसिद्धि हुई है, तो हम भी इसप्रकार ही कार्य की सिद्धि करेंगे, ऐसा मानकर सब ही को विशेष अभ्यास का त्याग करना उचित नहीं; क्योंकि यह राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग तो यही है ह नानाप्रकार के विशेष (भेद) जानकर तत्त्वों का निर्णय होते ही कार्यसिद्धि होती है।

तूने जो कहा कि मेरी बुद्धि से विकल्प साधन नहीं होता; तो जितना हो सके, उतना ही अभ्यास कर। तू पाप कार्य में तो प्रवीण है और इस अभ्यास में कहता है 'मेरी बुद्धि नहीं है', सो यह तो पापी का लक्षण है। इसप्रकार द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब अन्य विपरीत विचारवालों को समझाते हैं ह

२०. प्रश्न : शब्दशास्त्रादिक का पक्षपाती कहता है कि व्याकरण, न्याय, कोश, छंद, अलंकार, काव्यादिक ग्रन्थों का अभ्यास किया जाय तो अनेक ग्रन्थों का स्वयमेव ज्ञान होता है व पण्डितपना भी प्रगट होता है। इस शास्त्र के अभ्यास से तो एक इसी का ज्ञान होता है व पण्डितपना विशेष प्रगट नहीं होता; अतः शब्द-शास्त्रादिक का अभ्यास करना।

उत्तर : यदि तुम, लोक में ही पण्डित कहलाना चाहते हो, तो तुम उन ही का अभ्यास किया करो और यदि अपना (हितरूप) कार्य करने की चाह है, तो ऐसे जैन ग्रन्थों का ही अभ्यास करने योग्य है। तथा जैनी तो जीवादिक तत्त्वों के निरूपण करनेवाले जो जैन ग्रन्थ हैं, उन्हीं का अभ्यास होने पर पण्डित मानेंगे।

२१. प्रश्न : वह कहता है कि मैं जैन ग्रन्थों के विशेष ज्ञान होने के लिये व्याकरणादिक का अभ्यास करता हूँ।

उत्तर : ऐसा है, तो भला ही है; किन्तु इतना है कि जिसप्रकार चतुर किसान अपनी शक्ति अनुसार हलादिक द्वारा खेत को अल्प-बहुत सम्हालकर समय पर बीज बोवे, तो उसे फल की प्राप्ति होती है।

उसीप्रकार तुम भी यदि अपनी शक्ति अनुसार व्याकरणादिक के अभ्यास से बुद्धि को अल्प बहुत सम्हालकर जितने काल तक मनुष्य पर्याय तथा इन्द्रियों की प्रबलता इत्यादिक हैं, उतने समय में तत्त्वज्ञान के कारण जो शास्त्र हैं, उनका अभ्यास करोगे, तो तुम्हें सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति हो जायेगी।

जिसप्रकार अज्ञानी किसान हलादिक से खेत को संवारता-संवारता ही समय खोवे और समय पर बीज न बोवे तो उसको फल-प्राप्ति होनेवाली नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होगा।

उसीप्रकार तू भी यदि व्याकरणादिक द्वारा बुद्धि को संवारता-संवारता ही समय खोयेगा, तो सम्यक्त्वादिक की प्राप्ति होनेवाली नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होगा।

इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प हैं, इसलिए प्रयोजनमात्र अभ्यास करना; शास्त्रों का तो पार है नहीं और सुन ! कुछ जीव व्याकरणादि के ज्ञान बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषा शास्त्रों के द्वारा व उपदेश सुनकर तथा सीखने से भी तत्त्वज्ञानी होते देखे जाते हैं। कई जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गंवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते हैं हू ऐसा भी देखा जाता है।

और सुनो ! व्याकरणादिक का अभ्यास करने से पुण्य उत्पन्न नहीं होता; किन्तु धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य होता है। तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महान पुण्य उत्पन्न होता है, इसलिए भला तो यह है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए। इसप्रकार शब्द-शास्त्रादिक के पक्षपाती को इस शास्त्र के सन्मुख किया।

२२. प्रश्न : अर्थ/धन का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या होता है ? सर्व कार्य धन से बनते हैं। धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है; धनवान के निकट अनेक पण्डित आकर रहते हैं। अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है। अतः धन पैदा करने का उद्यम करना।

उत्तर : रे पापी ! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो होता नहीं, भाग्य से होता है। इस ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है। यदि धन होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? यदि नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा ? धन का होना न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है ? और सुनो ! धन है वह तो विनाशीक है, भय-संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है व नरकादि का कारण है।

जो यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। अतः महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में ही लगते हैं और तू पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन पैदा करने की बढ़ाई करता है, तू तो अनंत संसारी है।

तूने कहा कि प्रभावनादिक धर्म भी धन से होते हैं; किन्तु वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित् सावद्य क्रिया संयुक्त है; इसलिए समस्त सावद्य पाप रहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है। यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावनादि धर्म साधते थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में किसलिए लगते हैं ?

शास्त्राभ्यास करने से प्रभावनादि भी विशेष होती है।

तूने कहा कि धनवान के निकट पंडित भी आकर रहते हैं। सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो, वहाँ तो ऐसा ही होता है।

शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक भी सेवा करते हैं। यहाँ भी बड़े-बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यासवालों से धनवानों को महंत न जानो।

तूने कहा कि धन से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है (किन्तु ऐसा नहीं है।) उस धन से तो इस लोक संबंधी कुछ विषयादिक कार्य इसप्रकार से सिद्ध होते हैं, जिससे बहुत काल तक नरकादिक के दुःख सहने पड़ते हैं और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं कि जिससे इस लोक-परलोक में अनेक सुखों की परम्परा प्राप्त होती है।

इसलिए धन पैदा करने के विकल्प को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना और ऐसा सर्वथा न बने तो संतोष पूर्वक धन पैदा करने का साधन करके शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना। इसप्रकार धन पैदा करने के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास सन्मुख किया।

२३. प्रश्न : काम-भोगादिक का पक्षपाती कहता है कि शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बड़प्पन नहीं है; इसलिए जिनके द्वारा यहाँ ही सुख हो, ऐसे जो स्त्रीसेवन, खाना, पहिनना इत्यादिक विषय, उनका सेवन किया जाय अथवा जिसके द्वारा यहाँ ही बड़प्पन हो, ऐसे विवाहादिक कार्य किये जायें।

उत्तर : विषयजनित जो सुख है, वह दुःख ही है; क्योंकि विषय-सुख तो पर-निमित्त से होता है। पहले, पीछे और तत्काल ही आकुलता सहित

है और जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते ही हैं। आगामी काल में नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है। ऐसा होने पर भी वह तेरी चाह अनुसार मिलता ही नहीं, पूर्व पुण्य से होता है, इसलिए विषम है।

जैसे ह्व खाज से पीड़ित पुरुष अपने अंग को कठोर वस्तु से खुजाते हैं; वैसे ही इन्द्रियों से पीड़ित जीव, उनकी पीड़ा सही न जाय, तब किंचित् मात्र जिनमें पीड़ा का प्रतिकार-सा भासे, ऐसे जो विषय सुख, उनमें झंपापात करते हैं, वह परमार्थरूप सुख है ही नहीं।

शास्त्राभ्यास करने से जो सम्यग्ज्ञान हुआ, उससे उत्पन्न आनन्द, वह सच्चा सुख है। वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, इसलिए विषम नहीं है।

जिसप्रकार यदि खाज की पीड़ा नहीं हो तो सहज ही सुखी होता है; उसीप्रकार जब वहाँ इन्द्रियाँ पीड़ा देने के लिए समर्थ नहीं होती हैं, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है। इसलिए विषय सुख को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। यदि सर्वथा विषय न छूटे तो जितना हो सके उतना छोड़कर, शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।

तूने विवाहादिक कार्य में बढ़ाई होना कही, वह बढ़ाई कितने दिन रहेगी? जिसके लिए महापापारंभ कर नरकादि में बहुत काल तक दुःख भोगना होगा। उन कार्यों में तुझसे भी अधिक धन लगानेवाले बहुत हैं; अतः विशेष बढ़ाई भी होनेवाली नहीं है।

शास्त्राभ्यास में तो ऐसी बढ़ाई होती है कि जिसकी सर्वजन महिमा करते हैं, इन्द्रादिक भी प्रशंसा करते हैं और परम्परा से स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। इसलिए विवाहादिक कार्यों का विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना। सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प नहीं करना। इसप्रकार काम-भोगादिक के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास के सन्मुख किया।

इसप्रकार अन्य जीव भी जो विपरीत विचार से इस ग्रन्थ के अभ्यास में अरुचि प्रगट करते हैं, उनको यथार्थ विचार करके इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख होना योग्य है।

२४. प्रश्न : यहाँ अन्यमती कहते हैं कि तुमने अपने ही शास्त्र के अभ्यास करने को दृढ़ किया। हमारे मत में नाना युक्ति आदि सहित शास्त्र हैं; उनका भी अभ्यास क्यों न कराया जाय ?

उत्तर : तुम्हारे मत के शास्त्रों में आत्महित का उपदेश नहीं है। कहीं शृंगार का, कहीं युद्ध का, कहीं काम-सेवन आदि का, कहीं हिंसादिक के कथन हैं। ये तो बिना ही उपदेश सहज में ही हो रहे हैं; अतः इनको तजने से हित होता है। अन्यमत तो उलटा उनका ही पोषण करता है; इसलिए उससे हित कैसे होगा ?

२५. प्रश्न : वहाँ कहते हैं कि ईश्वर ने ऐसी लीला की है, उसको गाते हैं, तो उससे भला होता है।

उत्तर : वहाँ कहते हैं कि यदि ईश्वर को सहज सुख नहीं होगा, तब संसारीवत् लीला से सुखी हुआ। यदि वह सहज सुखी होता, तो किसलिए विषयादि सेवन या युद्धादि करता ? क्योंकि मंदबुद्धि भी बिना प्रयोजन किंचित् मात्र भी कार्य नहीं करते; इससे जाना जाता है कि वह ईश्वर हम जैसा ही है। उसका यश गाने से क्या सिद्धि होगी ?

२६. प्रश्न : वह फिर कहता है कि हमारे शास्त्रों में त्याग, वैराग्य, अहिंसादिक का भी तो उपदेश है।

उत्तर : वह सब उपदेश पूर्वापर विरोध सहित है, कहीं विषय पोषते हैं, कहीं निषेध करते हैं; कहीं पहले वैराग्य दिखाकर, पश्चात् हिंसादिक का करना पुष्ट किया है। वह वातुलवचनवत् प्रमाण कैसे हो ?

२७. प्रश्न : वह कहता है कि वेदान्त आदि शास्त्रों में तो तत्त्व का निरूपण है।

उत्तर : उनको कहते हैं ह्व नहीं, वह निरूपण प्रमाण से बाधित है, अयथार्थ है, उसका निराकरण जैनदर्शन के न्यायशास्त्रों में किया है, वहाँ से जानना; इसलिए अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास न करना। इसप्रकार जीवों को इस शास्त्र के अध्ययन में सन्मुख किया।

उनको कहते हैं

“हे भव्य जीवो ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द या अर्थ का बांचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं, वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्रों का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम व दुर्गम, अनेक अर्थों का निरूपण है; वहाँ जिसका बने उसका ही अभ्यास करना; परंतु अभ्यास में आलसी नहीं होना।

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर जीव परम्परा से आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं हू

१. क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है।
२. पंचेन्द्रियों के विषयों में होनेवाली प्रवृत्ति रुकती है।
३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।
४. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
५. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।
६. हेय-उपादेय की पहचान होती है।
७. आत्मज्ञान सन्मुख होता है। (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।)
८. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
९. लोक में महिमा/यश विशेष होता है।
१०. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

इतने गुण तो शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रगट होते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

२८. प्रश्न : हे भव्य ! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है, कैसे ?

उत्तर : एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त जीवों को तो मन ही नहीं है; नारकी वेदना से पीड़ित, तिर्यच विवेक रहित, देव विषयासक्त; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलने पर ही शास्त्राभ्यास होता है। इस मनुष्य पर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महादुर्लभ है।

द्रव्य अपेक्षा से तो लोक में मनुष्य जीव बहुत थोड़े हैं, तुच्छ संख्यात-मात्र ही हैं और अन्य जीवों में निगोदिया अनन्त हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं।

क्षेत्र अपेक्षा से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत स्तोक (थोड़ा ही) अढ़ाई द्वीप मात्र है और अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्व लोक है; दूसरों का कितने ही राजू प्रमाण है।

काल अपेक्षा से मनुष्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल स्तोक है, कर्मभूमि अपेक्षा पृथक्त्व कोटिपूर्व मात्र है और अन्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल हू एकेन्द्रियों में तो असंख्यात पुद्गलपरावर्तनमात्र और अन्यो में संख्यात पत्यमात्र है।

भाव अपेक्षा से तीव्र शुभाशुभपनेसे रहित ऐसे मनुष्य पर्याय के कारणरूप परिणाम होना अतिदुर्लभ हैं। अन्य पर्याय के कारण अशुभरूप वा शुभरूप परिणाम होना सुलभ हैं।

इसप्रकार शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्य पर्याय, उसका दुर्लभपना जानना।

वहाँ उत्तम निवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, निरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादि की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। यह प्रत्यक्ष दिख रहा है और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रन्थाभ्यास बनता नहीं है। सो तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है; इसलिये तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरणा करते हैं।

जैसे हो सके वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो, अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ और जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना वा पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करना, इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्यकारण, उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है व महान पुण्य उत्पन्न होता है। इसप्रकार इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया। P

अध्याय दूसरा

महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्माणवर्गणारूप पुद्गल की विशिष्ट अवस्था को कर्म कहते हैं।

२. प्रश्न : कार्माणवर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मरूप परिणमित होने योग्य वर्गणाओं को कार्माण वर्गणा कहते हैं।

३. प्रश्न : कर्म के मूल भेद कितने हैं ?

उत्तर : कर्म के मूल भेद आठ हैं ह्य ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिकर्म हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिकर्म हैं।

४. प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, आत्मा के ज्ञानगुण को घातता है; उसे ज्ञानावरणकर्म कहते हैं। इसके भेद ५ हैं।

५. प्रश्न : दर्शनावरणकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, आत्मा के दर्शनगुण को घातता है; उसे दर्शनावरणकर्म कहते हैं। इसके नौ भेद हैं ह्य चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलीदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धिकर्म।

६. प्रश्न : वेदनीयकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के फल में जीव को बाह्य सुख-दुःख की वेदना होती है अर्थात् जो कर्म निमित्तरूप से आत्मा के अव्याबाधगुण को

घातता है, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं ह्य सातावेदनीय और असाता-वेदनीयकर्म।

७. प्रश्न : मोहनीयकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण को घातता है; उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। इसके २८ भेद हैं।

८. प्रश्न : आयुकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, आत्मा को नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के शरीर में रोककर रखता है; उसे आयुकर्म कहते हैं अर्थात् आयुकर्म आत्मा के अवगाहनगुण को घातता है। इसके चार भेद हैं ह्य नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

९. प्रश्न : नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, जीव को गति आदि अनेक प्रकार से परिणामाता है अथवा शरीरादिक बनाता है; उसे नामकर्म कहते हैं अर्थात् नामकर्म आत्मा के सूक्ष्मत्वगुण को घातता है। इसके ९३ भेद हैं।

१०. प्रश्न : गोत्रकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म के उदय से उच्च, नीच गोत्र या कुल का व्यवहार होता है; उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसके २ भेद हैं।

११. प्रश्न : अन्तरायकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस कर्म, के उदय से दान आदि में विघ्न होता है; उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं।

१२. प्रश्न : घातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों के घात में अर्थात् ज्ञानादि गुणों की पर्यायों के व्यक्त न होने में निमित्त होनेवाले कर्म को घातिकर्म कहते हैं।

● यहाँ घाति कर्मों का परिणमन दो प्रकार से है ह्य सर्वघाति व देशघाति।

१३. प्रश्न : सर्वघाति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के ज्ञानादि गुणों के अर्थात् पर्यायों के पूर्णतः घात में निमित्त होनेवाले कर्म को सर्वघाति कर्म कहते हैं।

१४. प्रश्न : सर्वघाति प्रकृतियाँ कौन-कौनसी और कितनी हैं ?

उत्तर : १. केवलज्ञानावरण, २. केवलदर्शनावरण, ३. निद्रा, ४. निद्रा-निद्रा, ५. प्रचला, ६. प्रचला-प्रचला, ७. स्त्यानगृद्धि, ८-११. अनंतानुबंधी चतुष्क, १२-१५. अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, १६-१९. प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, २०. मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय, २१. सम्यग्मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय ह्ये २१ प्रकृतियाँ सर्वघाति हैं।

१५. प्रश्न : देशघाति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के ज्ञानादि गुणों के एकदेश अर्थात् अंशतः घात में निमित्त होनेवाले कर्म को देशघाति कर्म कहते हैं।

१६. प्रश्न : देशघाति प्रकृतियाँ कौन-कौनसी और कितनी हैं ?

उत्तर : १. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मनःपर्यय-ज्ञानावरण, ५. चक्षुदर्शनावरण, ६. अचक्षुदर्शनावरण, ७. अवधि-दर्शनावरण, ८. सम्यक्त्व-प्रकृति, ९-१२. संज्वलन चतुष्क, १३-२१. हास्यादि नौ नोकषाय, २२. दानान्तराय, २३. लाभान्तराय, २४. भोगान्तराय, २५. उपभोगान्तराय और २६. वीर्यान्तराय ह्ये २६ प्रकृतियाँ देशघाति हैं।

१७. प्रश्न : अघातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, जीव के ज्ञान आदि अनुजीवी गुणों को नहीं घातते, उसे अघातिकर्म कहते हैं।

१८. प्रश्न : मोह किसे कहते हैं ?

उत्तर : परद्रव्यों में जीव को अहंकार-ममकाररूप परिणाम का होना, वह मोह है।

● द्रव्य, गुण, पर्याय संबंधी मूढतारूप परिणाम, वह मोह है।

● देव, गुरु, धर्म, आप्त, आगम और पदार्थों के संबंध में अज्ञानभाव, वह मोह है।

विपरीत मान्यता, तत्त्वों का अश्रद्धान, विपरीत अभिप्राय, परपदार्थों में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं सुखबुद्धि अर्थात् शरीर को अपना स्वरूप मानना, पंचेन्द्रिय-विषयों में सुख मानना, अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रखना, स्वयं को पर का अथवा पर को अपना कर्ता-धर्ता-हर्ता मानना इत्यादि मिथ्यात्वभाव दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के श्रद्धा गुण के विकारी परिणामों को मोह कहते हैं।

१९. प्रश्न : राग किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी पदार्थ को इष्ट जानकर उसमें जीव के प्रीतिरूप परिणाम का होना, वह राग है।

माया, लोभ, हास्य, रति, तीन वेदरूप परिणाम और परपदार्थों के प्रति आकर्षण, स्नेह, प्रेम, ममत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि, आसक्ति इत्यादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के चारित्र गुण के कषायरूप परिणामन अर्थात् परिणामों को राग कहते हैं।

२०. प्रश्न : द्वेष किसे कहते हैं ?

उत्तर : किसी पदार्थ को अनिष्ट जानकर उसमें जीव के अप्रीतिरूप परिणाम का होना, वह द्वेष है।

क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और परपदार्थों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, जलन, द्रोह, असूया इत्यादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के चारित्र गुण के कषायरूप परिणामन अर्थात् परिणामों को द्वेष कहते हैं।

२१. प्रश्न : कर्मों की कितनी अवस्थाएँ होती हैं ?

उत्तर : कर्मों की दस अवस्थाएँ होती हैं ह्ये १) बंध २) सत्ता ३) उदय ४) उदीरणा ५) उत्कर्षण ६) अपकर्षण ७) संक्रमण ८) उपशांत ९) निधत्ति १०) निकाचित।

२२. प्रश्न : बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाओं का आत्मप्रदेशों के साथ होनेवाले विशिष्ट परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध को बंध कहते हैं।

२३. प्रश्न : बंध के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : बंध के चार भेद होते हैं ह १) प्रकृति बंध २) प्रदेश बंध ३) स्थिति बंध ४) अनुभाग बंध।

२४. प्रश्न : प्रकृति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकृति अर्थात् स्वभाव जैसे ह नीम का स्वभाव कडुआ, गुड़ का स्वभाव मीठा होता है, उसीप्रकार कर्मों के अपने-अपने स्वभाव को प्रकृति बंध कहते हैं।

● कर्मरूप परिणमित होनेयोग्य पुद्गलों का ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतिरूप तथा उसके भेद-उत्तरप्रकृतिरूप परिणमन होने का नाम प्रकृति बंध है।

२५. प्रश्न : प्रदेश बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के साथ प्रति समय जितने पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमन करते हैं, उनके प्रमाण अर्थात् संख्या को प्रदेश बंध कहते हैं।

२६. प्रश्न : स्थिति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गल स्कंधों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहस्थितिरूप कालावधि के बंधन को स्थिति बंध कहते हैं।

२७. प्रश्न : अनुभाग बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि कर्मों के रस विशेष को अथवा फल प्रदान करने की शक्ति विशेष को अनुभाग बंध कहते हैं।

२८. प्रश्न : सत्त्व अथवा सत्ता किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक समयों में बंधें हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ अस्तित्व होने का नाम सत्त्व अथवा सत्ता है।

२९. प्रश्न : उदय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्म की स्थिति पूरी होते ही कर्म के फल देने को उदय कहते हैं।

३०. प्रश्न : उदीरणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के परिणामों के निमित्त से कर्म की स्थिति पूरी हुए बिना ही कर्म के उदय में आकर फल देने को उदीरणा कहते हैं।

● जीव के परिणामों के निमित्त से कर्म के उदयावली के बाहर के निषेकों का उदयावली के निषेकों में आ मिलना उदीरणा है।

● जिस कर्म का उदयकाल नहीं था, उस कर्म के उदयकाल में आने को उदीरणा कहते हैं।

● अकालपाक को उदीरणा कहते हैं।

३१. प्रश्न : उत्कर्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के स्थिति-अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं।

३२. प्रश्न : अपकर्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के स्थिति-अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं।

३३. प्रश्न : संक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर : विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होने को संक्रमण कहते हैं।

जैसे ह विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असाता वेदनीय प्रकृति के परमाणुओं का साता वेदनीयरूप तथा संक्लेश परिणामों से साता वेदनीय के परमाणुओं का असाता वेदनीयरूप परिणमन होना।

● इसमें भी इतनी विशेषता है कि १. मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। २. चारों आयुओं में आपस में संक्रमण नहीं होता। ३. मोहनीय का उत्तरभेद-दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय में संक्रमण नहीं होता। ४. दर्शनमोहनीय के भेदों में एवं चारित्रमोहनीयकर्म के भेदों में परस्पर संक्रमण होता है।

३४. प्रश्न : उपशांत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म उदय में नहीं आ सके, सत्ता में रहे, वह उपशांत कहलाता है।

● सत्ताविषै तिष्ठता अपनी-अपनी स्थिति को धरै हैं ज्ञानावरणादिक कर्म का द्रव्य जा विषै, जाकी जावत् काल उदीरणा न होय तावत् काल उपशांत करण कहिए।

● उपशांत करण आठों कर्मों में होता है।

● उपशांत अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है; किन्तु उसकी उदीरणा नहीं होती।

● कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशांतकरण है।

३५. प्रश्न : उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा में कर्म की निजशक्ति का कारणवश प्रगट न होना, उपशम है। जैसे ह्न कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है।

● परिणामों की विशुद्धता से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रगट न होना उपशम है।

● उपशम मात्र दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय में होता है, अन्य किसी भी कर्मों में नहीं।

● कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशम करण नहीं है।

● प्रशस्त-अप्रशस्त भेद उपशांत के नहीं है।

३६. प्रश्न : प्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : (अ) अधःकरणादि द्वारा उपशम विधान से (अनंतानुबंधी चतुष्क बिना) मोहनीय कर्म की जो उपशमना होती है, उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। इसे अंतरकरणरूप उपशम भी कहते हैं।

(ब) आगामी काल में उदय आनेयोग्य कर्म परमाणुओं को जीवकृत परिणाम विशेष के द्वारा आगे-पीछे उदय में आनेयोग्य होने को अंतर-

करणरूप उपशम कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय का प्रशस्त उपशम ही होता है।

(क) उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात के बिना कर्मों के सत्ता में रहने को प्रशस्त उपशम कहते हैं।

३७. प्रश्न : अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रशस्त उपशम का दूसरा नाम सदवस्थारूप उपशम भी है।

● वर्तमान समय छोड़कर आगामी काल में उदय आनेवाले कर्मों का सत्ता में पड़े रहने को सदवस्थारूप उपशम या अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

● उदय का अभाव ही अप्रशस्त उपशम है।

● अनंतानुबंधी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। जैसे ह्न सर्वघाती प्रकृतियों का क्षयोपशम दशा में होनेवाला सदवस्थारूप उपशम।

● जो कर्म तीन करणों के बिना ही सत्ता में स्वयं दबा हुआ रहे, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

● सम्यग्दर्शन के समय जो तीन करण होते हैं, वे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम के लिए होते हैं, अनंतानुबंधी कषाय को दबाने के लिए नहीं; परन्तु अनन्तानुबन्धी का सदवस्थारूप/अप्रशस्त उपशम अपने आप होता है।

३८. प्रश्न : निधत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं।

३९. प्रश्न : निकाचित किसे कहते हैं ?

उत्तर : संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के अयोग्य प्रकृतियों को निकाचित कहते हैं।

ये तीनों (उपशांत द्रव्यकर्म, निधत्ति एवं निकाचित कर्म) प्रकार के करण द्रव्य अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यंत ही पाये जाते हैं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के तीनों करण युगपत् व्युच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। (कर्मकाण्ड गाथा :

४५० एवं जयधवला पुस्तक : १३, पृष्ठ : २३१, ६७६)

४०. प्रश्न : उदयावली किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमान समय से लेकर एक आवली पर्यंत काल में उदय आनेयोग्य निषेकों को उदयावली कहते हैं।

४१. प्रश्न : निषेक किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक समय में उदय आनेवाले कर्मपरमाणुओं के समूह को निषेक कहते हैं।

४२. प्रश्न : क्षय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर होने को क्षय कहते हैं।

● कर्मों का कर्मरूप से नाश होने को अर्थात् अकर्मरूप दशा होने को क्षय कहते हैं।

४३. प्रश्न : श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्रमोहनीय की अनंतानुबंधी चतुष्क बिना शेष २१ प्रकृतियों के उपशम वा क्षय में निमित्त होनेवाले जीव के शुद्ध भावों अर्थात् वृद्धिगत वीतराग परिणामों को श्रेणी कहते हैं।

४४. प्रश्न : श्रेणी के कितने भेद हैं ?

उत्तर : उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी, इसप्रकार दो भेद हैं।

४५. प्रश्न : श्रेणी चढ़ने से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : सातवें गुणस्थान से आगे मुनिराज क्रम से शुद्ध भावों को अर्थात् वीतरागता को बढ़ाते ही जाते हैं; इसी को श्रेणी चढ़ना कहते हैं।

● सातवें गुणस्थान से आगे वृद्धिगत वीतराग परिणामों की दो श्रेणियाँ हैं ह १. उपशमश्रेणी व २. क्षपकश्रेणी है। प्रत्येक श्रेणी के चार-चार गुणस्थान होते हैं।

४६. प्रश्न : उपशमश्रेणी किसे कहते हैं ? उसके कौन-कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर : जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है, उसे उपशमश्रेणी कहते हैं। आठवाँ,

नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ ये चार गुणस्थान उपशमश्रेणी के हैं।

४७. प्रश्न : क्षपकश्रेणी किसे कहते हैं ? उसके कौन-कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर : जिसमें चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के क्षय के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ ये चार गुणस्थान क्षपकश्रेणी के हैं।

४८. प्रश्न : श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन होता है ?

उत्तर : सातिशय अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिराज श्रेणी चढ़ने के पात्र होते हैं।

● क्षायिक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त मुनिराज, उपशम अथवा क्षपकश्रेणी चढ़ सकते हैं; परन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मात्र उपशम श्रेणी चढ़ सकते हैं।

४९. प्रश्न : मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ? उसके कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : जीव के मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों के होने में जो कर्म, निमित्त होता है; उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। उसके दो भेद हैं ह दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्रमोहनीय कर्म।

५०. प्रश्न : दर्शनमोहनीय कर्म के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : बंध की अपेक्षा दर्शनमोहनीय कर्म एक ही प्रकार का है; किन्तु सत्त्व अर्थात् सत्ता और उदय की अपेक्षा से उसके तीन भेद हैं ह (१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व (३) सम्यक्प्रकृति।

जैसे ह चक्की में दले हुये कोदों के चावल, कण और भूसी, इसप्रकार तीन भेद होते हैं; उसीप्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी चक्की में दले गये दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद होते हैं।

५१. प्रश्न : मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख होकर तत्त्वार्थश्रद्धान में निरुत्सुक, हिताहित विचार करने में असमर्थ, मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यतारूप

परिणाम में निमित्त होनेवाले कर्म को मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

५२. प्रश्न : सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रक्षालित क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदों के समान मिश्र श्रद्धान में निमित्त होनेवाले कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

५३. प्रश्न : सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोषों के उत्पन्न होने में निमित्त होनेवाले कर्म को सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

५४. प्रश्न : चारित्रमोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष की निवृत्तिमय आत्मस्थिरता-रूप चारित्र की अप्रगटता में निमित्त होनेवाले कर्म को चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं।

५५. प्रश्न : चारित्रमोहनीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर : दो भेद हैं ह्य कषाय और नोकषाय।

कषाय के सोलह भेद हैं ह्य अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

नोकषाय के नौ भेद हैं ह्य हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। (ये ९ नोकषायें अनन्तानुबन्धी आदि चार भेदरूप भी होती हैं अर्थात् इनका उदय उन क्रोधादि के साथ यथासम्भव होता है। खुलासा के लिए भावदीपिका पृष्ठ ४९ से ७० कषायभाव अंतराधिकार पढ़ें।)

५६. प्रश्न : कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अमर्याद/विस्तृत संसाररूपी कर्मक्षेत्र को जोतकर आत्मस्वभाव से विपरीत, लौकिक सुख और दुःख आदि अनेक प्रकार के धान्य के उत्पादक, जीव के विकारी परिणामों को कषाय कहते हैं।

● आत्मा को दुःखी करनेवाले, आकुलित करनेवाले, कसनेवाले

परिणामों को कषाय कहते हैं। इन ही परिणामों के समय पूर्वबद्ध कर्मों का जो उदय निमित्त होता है; उसे ही कषाय कर्म कहते हैं।

● इन कषाय परिणामों के समय स्वयं कर्मरूप परिणमित नवीन कार्माणवर्गणाओं को कषाय कर्म कहते हैं।

५७. प्रश्न : नोकषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : नो = ईषत्, किंचित्, अल्प। किंचित् कषाय कर्म को नोकषाय कर्म कहते हैं।

५८. प्रश्न : अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म, आत्मा के स्वरूपाचरणचारित्र परिणाम को घातते हैं; उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म कहते हैं।

आत्मा अनन्त + अनुबन्धी = अनन्तानुबन्धी। अनन्त = संसार अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम। अनु = साथ-साथ। बन्धी = बंधनेवाली।

● मिथ्यात्व परिणाम के साथ-साथ बंधनेवाली कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म कहते हैं।

जो कषाय अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावों से अनुबंध करे सम्बन्ध जोड़े, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जैसे ह्य अन्याय, अनीति व अविवेकपूर्वक राज्यविरुद्ध, लोकविरुद्ध व धर्मविरुद्ध अमर्यादितरूप से होनेवाले जीव के कषाय भाव।

● यह कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनों के घात में निमित्त होती है।

५९. प्रश्न : अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रत्याख्यान + आवरण = अप्रत्याख्यानावरण।

अ = किंचित्, ईषत्। प्रत्याख्यान - त्याग अर्थात् किंचित् त्याग अर्थात् देशचारित्र, संयमासंयम। द्रव्यव्रत अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभोपयोगरूप बाह्य व्रतों का ग्रहण। भावव्रत/चारित्र अर्थात् दो कषाय चौकड़ी के अभाव से व्यक्त होनेवाली वीतरागता। जैसे ह्य न्याय, नीति व विवेकपूर्वक राज्यादि के अविरुद्ध मर्यादापूर्वक होनेवाले जीव के अकषायभाव।

आवरण = ढकनेवाला ।

● जीव के देशसंयमरूप चारित्र परिणामों को आवृत्त करने अर्थात् ढकने में निमित्त होनेवाले कर्म को अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म कहते हैं ।

६०. प्रश्न : प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्याख्यान + आवरण = प्रत्याख्यानावरण ।

प्रत्याख्यान = त्याग, महाव्रत, सकलसंयम, सकलचारित्र, संयम ।

द्रव्यव्रत अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभोपयोगरूप बाह्य महाव्रतों का ग्रहण ।

भावव्रत/चारित्र अर्थात् तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से व्यक्त होनेवाली वीतरागता ।

● जीव के सकलसंयमरूप चारित्र परिणामों को आवृत्त करने में अर्थात् ढकने में निमित्त होनेवाले कर्म को प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म कहते हैं ।

६१. प्रश्न : संज्वलन कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम् + ज्वलन = संज्वलन, सम् = अच्छी रीति से । ज्वलन = प्रकाशित होना । जीव के सकलसंयम परिणामों के साथ जो अच्छी तरह से प्रकाशित होती है, रह सकती है । (नष्ट होती है, जलती है)

● जो संकलसंयम परिणामों के घात में निमित्त नहीं होती है; लेकिन सकलसंयम के साथ रहती है, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं ।

● जीव के यथाख्यातचारित्र परिणामों अर्थात् पूर्ण वीतराग भाव के घात में निमित्त होनेवाले कर्म को संज्वलन कषाय कर्म कहते हैं ।

६२. प्रश्न : क्षयोपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावीक्षय, भविष्य में उदय में आनेयोग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय, इन तीनरूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं ।

६३. प्रश्न : उदयाभावीक्षय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होता है, तब आत्मा के गुण

की तनिक भी अभिव्यक्ति नहीं होती; इसलिए उस उदय के अभाव को उदयाभावीक्षय कहते हैं ।

● आत्मगुणों (पर्यायों) की किंचित् भी अभिव्यक्ति न होने में निमित्त होनेवाले सर्वघाति-स्पर्धकों के उदय के अभाव को उदयाभावीक्षय कहते हैं ।

● सर्वघाति स्पर्धक अनंत गुणे हीन हो-होकर अर्थात् उदय के एक समय पूर्व देशघाति स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं । उन सर्वघाति स्पर्धकों का अनंतगुणहीनत्व ही क्षय कहलाता है । इसे ही स्तिबुक संक्रमण कहते हैं ।

६४. प्रश्न : सदवस्थारूप उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्तमान समय को छोड़कर आगामी काल में उदय आनेवाले कर्मों के सत्ता में रहने को सदवस्थारूप उपशम कहते हैं ।

● उदय का अभाव ही अप्रशस्त उपशम है । अनंतानुबंधी का अप्रशस्त उपशम ही होता है ।

६५. प्रश्न : अविभागी-प्रतिच्छेद किसे कहते हैं ?

उत्तर : शक्ति के अविभागी अंश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं । अ = नहीं, विभाग = अंश अर्थात् जिसका दूसरा अंश न हो सके, वह अविभागी है । प्रतिच्छेद = शक्ति का अंश ।

● द्रव्य में सबसे छोटा परमाणु एवं कालाणु, क्षेत्र की अपेक्षा आकाश का एक प्रदेश, काल की दृष्टि से सबसे छोटा समय और भाव अर्थात् शक्ति की अपेक्षा सब से छोटा अंश अविभागी प्रतिच्छेद है ।

६६. प्रश्न : वर्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर : समान अविभागी-प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं । चूँकि प्रत्येक परमाणु में अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं, इसलिए प्रत्येक परमाणु एक वर्ग है ।

६७. प्रश्न : वर्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : समान अविभागी-प्रतिच्छेदों से युक्त वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं ।

६८. प्रश्न : स्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक-एक अविभागी-प्रतिच्छेद से अधिक वर्गों के समूहरूप वर्गणाएँ जहाँ तक उपलब्ध हों, उन वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं।

● अनेक प्रकार की अनुभागशक्ति से युक्त कार्माणवर्गणाओं को अर्थात् कर्मसमूह को स्पर्धक कहते हैं।

● सर्वघाति प्रकृति में संपूर्ण स्पर्धक सर्वघाति ही होते हैं, उसमें देशघाति स्पर्धक नियम से नहीं होते। इस कारण से सर्वघाति प्रकृति में कर्म का क्षयोपशम घटित नहीं होता। उदाहरणार्थ ह्र केवलज्ञानावरण कर्म।

● देशघाति प्रकृति में स्पर्धक, सर्वघाति तथा देशघाति दोनों प्रकार के होते हैं। इस कारण से देशघाति कर्मों के उदय-काल में कर्म का क्षयोपशम घटित होता है और जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुण की पर्याय प्रगट होती है। उदाहरणार्थ ह्र मतिज्ञानावरणादि देशघाति कर्म।

६९. प्रश्न : पूर्वस्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के पूर्व पाये जानेवाले स्पर्धकों को पूर्वस्पर्धक कहते हैं।

७०. प्रश्न : अपूर्वस्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के परिणामों के निमित्त से अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को अपूर्वस्पर्धक कहते हैं।

७१. प्रश्न : कृष्टि (अनुकृष्टि) किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों के अनुभाग का क्रम से हीन-हीन होने को कृष्टि अथवा अनुकृष्टि कहते हैं। अर्थात् अनुभाग का कृष होना-घटना, सो कृष्टि है। यह कृष्टि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के परिणामों के निमित्त से होती है।

७२. प्रश्न : बादरकृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपूर्वस्पर्धक से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को बादरकृष्टि कहते हैं। अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुभाग घटना ह्र स्थूल खंड होना, सो बादरकृष्टि है।

७३. प्रश्न : सूक्ष्मकृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : बादरकृष्टि से भी विशेष अनुभाग क्षीण स्पर्धकों को सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं।

७४. प्रश्न : अनुकृष्टिरचना किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऊपर-नीचे के परिणामों में अनुकर्षण अर्थात् क्रम से हीन-हीन होने को दिखानेवाली रचना विशेष को अनुकृष्टि रचना कहते हैं।

७५. प्रश्न : मार्गणा किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : किन्हीं विशिष्ट पर्यायों अर्थात् भावों के आधार पर जीवों के अन्वेषण अर्थात् खोज को मार्गणा कहते हैं। उसके चौदह भेद हैं ह्र गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार।

● मार्गणा प्रकरण में विवक्षित भाव का सद्भाव-असद्भाव दोनों अपेक्षित होते हैं।

७६. प्रश्न : सम्यक्त्वमार्गणा किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन/श्रद्धागुण की मुख्यता से जीवों के अन्वेषण को सम्यक्त्व-मार्गणा कहते हैं।

उसके छह भेद हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, औपशमिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व। (प्रथम तीन भेदों का स्वरूप तत्संबंधी गुणस्थानरूप ही है; अतः गुणस्थान अध्याय में देखिये।)

“सम्यक्त्व के तो भेद तीन ही हैं। तथा सम्यक्त्व के अभावरूप मिथ्यात्व है। दोनों का मिश्रभाव सो मिश्र है। सम्यक्त्व का घातक भाव सो सासादन है। इसप्रकार सम्यक्त्वमार्गणा से जीव का विचार करने पर छह भेद कहे हैं।” ह्र मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : ३३७

७७. प्रश्न : औपशमिकसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्म सन्मुख पुरुषार्थी जीव के पांच, छह या सात प्रकृतियों (दर्शनमोहनीय तीन, अनंतानुबंधी चतुष्क) के उपशम के समय में

अर्थात् निमित्त से होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

● अनादि मिथ्यादृष्टि के ५ प्रकृतियों का और सादि मिथ्यादृष्टि के ७, ६ या ५ प्रकृतियों का उपशम होता है।

● अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्रगट होता है।

७८. प्रश्न : क्षायोपशमिकसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं।

● क्षयोपशमह अनंतानुबंधी ४ व मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाति सम्यक् प्रकृति दर्शनमोहनीय का उदय।

७९. प्रश्न : क्षायिकसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय के समय में होनेवाले तथा भविष्य में अनन्त कालपर्यन्त रहनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन हमेशा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है और भविष्य काल में अनन्त कालपर्यन्त क्षायिकरूप ही रहता है।

८०. प्रश्न : औपशमिकसम्यक्त्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर : दो भेद हैं, प्रथमोपशमसम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व।

८१. प्रश्न : प्रथमोपशमसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'प्रथम' शब्द का अर्थ पहली बार नहीं। अनादि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव को जब भी औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसको प्रथमोपशम-सम्यक्त्व ही कहते हैं।

८२. प्रश्न : द्वितीयोपशमसम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के अनंतर श्रेणी चढ़ने के लिए जो औपशमिक सम्यक्त्व होता है, उसे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

● श्रेणी चढ़ने के सन्मुख सातिशय सप्तम गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज के (अनंतानुबंधीचतुष्क के विसंयोजन तथा) दर्शनमोहनीय त्रिक के उपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन को द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व कहते हैं।

८३. प्रश्न : विसंयोजन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनंतानुबंधी चतुष्क के अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषाय और हास्यादि नौ नोकषायकर्मरूप परिणमित होने को विसंयोजन कहते हैं।

● यह विसंयोजना का कार्य चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त के किसी भी एक गुणस्थान में होता है।

८४. प्रश्न : जीव के असाधारण भाव किसे कहते हैं और वे कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में न पाये जानेवाले अर्थात् मात्र जीव में ही पाये जानेवाले भावों को जीव के असाधारणभाव कहते हैं। ये औपशमिक आदि पांच प्रकार के हैं ह

१. औपशमिक भाव : निजशुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के मोहनीय कर्म के अंतरकरणरूप उपशम के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले शुद्धभावों को औपशमिकभाव कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ह ये दो औपशमिकभाव हैं।

२. क्षायिकभाव : निजशुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थी जीव के कर्मक्षय के समय में होनेवाले एवं भविष्य में अनन्त काल पर्यन्त रहनेवाले शुद्धभावों को क्षायिकभाव कहते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य ह ये नौ भेद क्षायिकभाव के हैं।

३. क्षायोपशमिकभाव : कर्म के क्षयोपशम के समय में अर्थात्

निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। क्षायोपशमिक के अठारह भेद हैं - क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकचारित्र (सकलसंयम), देशसंयम (संयमासंयम), चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, क्षायोपशमिकदान, क्षायोपशमिकलाभ, क्षायोपशमिकभोग, क्षायोपशमिक-उपभोग और क्षायोपशमिकवीर्य।

४. औदयिकभाव : कर्मोदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को औदयिकभाव कहते हैं। औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं - चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्या - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

५. पारिणामिकभाव : पूर्णतः कर्मनिरपेक्ष अर्थात् कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय से निरपेक्ष जीव के परिणामों को पारिणामिकभाव कहते हैं। पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं - जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

८५. प्रश्न : निमित्तकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पदार्थ स्वयं विवक्षित कार्यरूप तो न परिणमे; परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस पर आरोप आ सके, उस पदार्थ को निमित्त कारण कहते हैं। जैसे ह्व घट की उत्पत्ति में कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि।

८६. प्रश्न : निमित्त-नैमित्तिक संबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब उपादान स्वतः कार्यरूप परिणमता है, तब भावरूप या अभावरूप किस उचित (योग्य) निमित्त कारण का उसके साथ सम्बन्ध है ह्व यह बताने के लिए उस कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। इस तरह से भिन्न पदार्थों के इस स्वतन्त्र सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रता का सूचक नहीं है, किन्तु

नैमित्तिक के साथ कौन निमित्तरूप पदार्थ है; उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहा है, उसी को उपादान की अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।

८७. प्रश्न : आवली किसे कहते हैं ?

उत्तर : जघन्य युक्त असंख्यात समय-समूह को आवली कहते हैं।

८८. प्रश्न : समय किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक आकाश के प्रदेश से निकटवर्ती अन्य आकाश के प्रदेश पर्यंत मंदगति से गमन करते हुए परमाणु के गमन काल को समय कहते हैं। यह व्यवहार काल का सबसे छोटा अंश है।

८९. प्रश्न : प्रदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक परमाणु से व्याप्त आकाशक्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

● एक प्रदेश में अनंत परमाणुओं को अवगाहन देने की शक्ति है।

९०. प्रश्न : अंतर्मुहूर्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुहूर्त में से एक समय कम शेष काल प्रमाण को भिन्न मुहूर्त कहते हैं। उस भिन्न मुहूर्त में से भी एक समय कम शेष काल प्रमाण को अंतर्मुहूर्त कहते हैं; यह उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है।

● जो मुहूर्त के समीप हो, उसे अंतर्मुहूर्त कहते हैं।

● आवली से अधिक और मुहूर्त से कम काल को अंतर्मुहूर्त कहते हैं।

● एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में असंख्यात आवली होती है। एक आवली+एक समय यह जघन्य अंतर्मुहूर्त है।

उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त से एक समय कम और जघन्य से एक समय अधिक ऐसे मध्यम अंतर्मुहूर्त असंख्यात होते हैं।

९१. प्रश्न : मुहूर्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : (दो घड़ी) अड़तालीस मिनिट को मुहूर्त कहते हैं।

९२. प्रश्न : पूर्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष काल को पूर्व कहते हैं।

१३. प्रश्न : सागर किसे कहते हैं ?

उत्तर : दस कोड़ाकोड़ी अद्वापल्योपम काल को सागर कहते हैं।

१४. प्रश्न : असंख्यात किसे कहते हैं ?

उत्तर : संख्यातीत कल्पित राशि में से एक-एक संख्या घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है, उस राशि को असंख्यात कहते हैं।

● जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का अर्थात् मति-श्रुतज्ञान का विषय है, उसे संख्यात कहते हैं।

● अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानगम्य संख्या को असंख्यात कहते हैं।

● जिसकी गिनती न हो सके, उसे असंख्यात कहते हैं।

● संख्यातीत राशि को असंख्यात कहते हैं।

१५. प्रश्न : अनंत किसे कहते हैं ?

उत्तर : असंख्यात के ऊपर केवलज्ञानगम्य संख्या को अनंत कहते हैं।

● नवीन वृद्धि न होने पर भी संख्यात या असंख्यातरूप से कितना भी घटाते जाने पर जिस संख्या का अंत न आवे, उसे अक्षय अनंत कहते हैं।

(● जिस संख्या का अन्त आ जाये, उसे सक्षय अनंत कहते हैं।)

१६. प्रश्न : समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : मूल शरीर को न छोड़कर तैजस-कार्माणरूप उत्तर देह के साथ जीव-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

१७. प्रश्न : समुद्घात कितने और कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : समुद्घात सात प्रकार का होता है ह्व वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली समुद्घात।

१८. प्रश्न : केवली समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने मूल परम औदारिक शरीर को छोड़े बिना आत्म-प्रदेशों के दण्डादिरूप होकर शरीर से बाहर फैलने को केवली समुद्घात कहते हैं।

१९. प्रश्न : केवली भगवान के समुद्घात क्यों होता है ?

उत्तर : आयुकर्म की स्थिति अल्प हो और शेष तीन अघातिया

कर्मों की स्थिति आयु की अपेक्षा अधिक होने पर, अन्य तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान अंतर्मुहूर्त करने के लिए केवली भगवान के समुद्घात होता है।

१००. प्रश्न : मारणान्तिक समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व नवीन पर्याय धारण करने के क्षेत्र को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। जिन्होंने परभव की आयु बांध ली है, ऐसे जीवों के ही मारणान्तिक समुद्घात होता है।

१०१. प्रश्न : अनादि मिथ्यादृष्टि जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादिकाल से आज पर्यंत जिस जीव ने मिथ्यात्व का नाश नहीं किया अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं की ऐसे जीव को अनादि मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

१०२. प्रश्न : सादि मिथ्यादृष्टि जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक बार सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाने पर भी पुनः पुरुषार्थहीनता से मिथ्यात्वी हो जानेवाले जीव को सादि मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

१०३. प्रश्न : गुणस्थान परिज्ञान क्यों आवश्यक है ?

उत्तर : संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए और निर्जरा के लिए चौदह गुणस्थानों का परिज्ञान करना आवश्यक है।

१०४. प्रश्न : करणानुयोग के अध्ययन का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है।

१०५. प्रश्न : करणानुयोग अध्ययन से प्रयोजन की सिद्धि किसप्रकार होती है ?

उत्तर : जो जीव धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं, वे जीवों के गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मों के कारण-अवस्था-फल किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोक में

नरक-स्वर्गादिक के ठिकाने पहिचान कर पाप से विमुख होकर धर्म में लगते हैं। तथा ऐसे विचार में उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; उस अभ्यास से तत्त्वज्ञान की भी प्राप्ति शीघ्र होती है। तथा ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमत में ही है, अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार महिमा जानकर जिनमत का श्रद्धानी होता है।

१०६. प्रश्न : तत्त्वज्ञानी जीवों को करणानुयोग के अभ्यास से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है। इस अभ्यास से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है।

१०७. प्रश्न : संवर किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-स्थिरता के द्वारा मोह-राग-द्वेष परिणामों के निरोधपूर्वक शुभाशुभ कर्मों के निरोध को संवर कहते हैं। शुद्धि/वीतरागता की उत्पत्ति को संवर कहते हैं।

१०८. प्रश्न : निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : संवरपूर्वक विशिष्ट स्वरूपस्थिरता से कर्मों के क्षरण (खिरने) को निर्जरा कहते हैं। शुद्धि/वीतरागता की वृद्धि को निर्जरा कहते हैं।

१०९. प्रश्न : योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों के ग्रहण में निमित्तरूप जीव के प्रदेशों की परिस्पन्दनरूप पर्याय को योग कहते हैं।

११०. प्रश्न : योग के कितने भेद हैं ?

उत्तर : योग के दो भेद हैं ह्य १. भावयोग, २. द्रव्ययोग।

१११. प्रश्न : भावयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्म-नोकर्म के योग्य पुद्गलमय कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करने में निमित्तरूप आत्मा की शक्तिविशेष को भावयोग कहते हैं।

११२. प्रश्न : द्रव्ययोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : भावयोग के कारण से आत्मा के प्रदेशों का जो सकम्प होना, सो द्रव्ययोग है।

११३. प्रश्न : अन्य अपेक्षा योग के कौन-कौनसे और कितने भेद हैं ?

उत्तर : कषाययोग और अकषाययोग ह्य ये दो भेद हैं।

● आलम्बन की अपेक्षा से मनोयोग, वचनयोग और काययोग ह्य ऐसे तीन भेद होते हैं।

● मनोयोग के ४, वचनयोग के ४ और काययोग के ७ ऐसे निमित्त की अपेक्षा से १५ भेद भी होते हैं।

● वास्तविकरूप से देखा जाय तो योग एक ही प्रकार का है।

११४. प्रश्न : गमनागमन का क्या अर्थ है ?

उत्तर : गमन का अर्थ जाना, आगमन का अर्थ है आना।

● जीव के एक गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जाने-आने के अर्थ में गमनागमन शब्द का प्रयोग किया जाता है। (गो.क.का. गाथा ५५६ से ५५९)

११५. प्रश्न : शुभोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन, परम भट्टारक देवाधिदेव परमेश्वर ऐसे अरहंत, सिद्ध तथा साधु की श्रद्धा करने में व समस्त जीव समूह की अनुकंपा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है। (प्रवचनसार गाथा-१५७)

११६. प्रश्न : अशुभोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन परम भट्टारक देवाधिदेव परमेश्वर ऐसे अरहंत, सिद्ध तथा साधु के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है। (प्रवचनसार गाथा-१५ की टीका)

११७. प्रश्न : शुद्धोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : १. जो उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन परद्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ तथा अशुभरूप

अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करता है; वह शुद्धोपयोग है। (प्रवचनसार गाथा १५९ की टीका)

२. इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभावतैं ज्ञान ही में उपयोग लागै; ताको शुद्धोपयोग कहिए। सो ही चारित्र है। (जयचंदजी छाबड़ा मोक्षपाहुड ७२ गाथा)

३. चित्तनिरोध, शुद्धोपयोग, साम्य, स्वास्थ्य, समाधि और योग ये सर्व शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। (पद्मनंदि पंचविंशतिका, गाथा-६४)

४. उपयोगरूप (ज्ञान-दर्शन) वीतरागता को शुद्धोपयोग कहते हैं।

शुद्धोपयोग के संबंध में अत्यंत संतुलित और स्पष्ट भाव पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के पृष्ठ २८६ पर दिया है ह

“करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला (बारहवें क्षीणमोह और ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानवाले) शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे ? तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है।

इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर (श्रावक चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती साधक) आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उस काल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं; तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की; अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा से उसे चौथे, पंचमादि गुणस्थानों में शुद्धोपयोगी कहा है।”

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ क्रमांक २८५ पर कहा है “धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और राग-द्वेषरहित परिणाम वह शुद्धोपयोग।”

११८. प्रश्न : शुद्ध परिणति किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुद्ध शब्द का अर्थ मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों से रहित ऐसा वीतरागरूप परिणाम।

● आत्मा के चारित्र गुण की शुद्ध पर्याय को शुद्धपरिणति कहते हैं।
● बुद्धिपूर्वक शुभाशुभ उपयोग के काल में उपयोग रहित चारित्र गुण की वीतराग अवस्था को शुद्ध परिणति कहते हैं।

११९. प्रश्न : अधःकरणादि तीन करण कितने स्थान पर होते हैं ?

उत्तर : औपशमिक एवं क्षायिक सम्यक्त्व के लिए, अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क की विसंयोजना के लिए और चारित्रमोहनीय के २१ प्रकृतियों की उपशमना तथा क्षपणा करने के लिए अधःकरणादि तीनों करण होते हैं।

१२०. प्रश्न : क्या कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के निमित्त से शुद्ध भाव होते हैं अथवा आत्मा के शुद्ध भावों से कर्मों के क्षयादि होते हैं ?

उत्तर : दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से सही हैं। पहला कथन कर्म की ओर से निमित्त की मुख्यता से किया गया है तथा दूसरा कथन जीव के भावों की ओर से उपादान की मुख्यता से किया गया है।

● कर्म के उपशमादि कार्य और जीव के औपशमिकादिक भाव एक ही समय में होते हैं; इसलिए दोनों कथनों का भाव एक ही है।

● वास्तविक देखा जाय तो पुद्गल कर्मों में उत्पाद-व्यय पुद्गल के उपादान से होता है और आत्म-परिणामों में उत्पाद-व्यय आत्मरूप उपादान से होता है। दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से सही हैं।

● अपराध मात्र जीव का है, पुद्गल अर्थात् कर्म का नहीं। अपराध का अभाव भी जीव ही करता है। इसलिए जीव को ही उपदेश दिया जाता है।

१२१. प्रश्न : विग्रहगति में आत्मा कौन-कौन से गुणस्थानों में होता है ? किन गुणस्थानों के परिणामों के साथ जीव परभव में जाता है ?

उत्तर : प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ गुणस्थान के परिणामों के साथ जीव परभव में जाता है। अर्थात् विग्रह गति में ये तीन ही गुणस्थान होते हैं।

१२२. प्रश्न : कौन से गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती ?

उत्तर : तीसरे, बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती। कहा भी है ह मिश्र, क्षीण, सजोग तीन में मरन न पावै।

- क्षपक श्रेणी के किसी भी गुणस्थान में मरण नहीं होता ।
- उपशम श्रेणी के आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में भी मरण नहीं होता ।
- पाँचवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत के सर्व गुणस्थानों में जीव का मरण तो हो सकता है; लेकिन पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत के गुणस्थानों के परिणामों को साथ लेकर विग्रह-गति में नहीं जाता । मरण होते ही विग्रहगति के प्रथम समय में चौथा गुणस्थान हो जाता है ।

१२३. प्रश्न : संसार में किन-किन गुणस्थानों का विरह नहीं होता ?

उत्तर : पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ और तेरहवाँ इन गुणस्थानों का संसार में कभी भी विरह नहीं होता अर्थात् इन गुणस्थानों में जीव सदा विद्यमान रहते ही हैं ।

१२४. प्रश्न : अप्रतिपाति गुणस्थान कौन-कौन से हैं ।

उत्तर : बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ एवं क्षपकश्रेणी का आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ ये गुणस्थान अप्रतिपाति हैं । अर्थात् इन गुणस्थानों से जीव नीचे न जाकर ऊपर ही ऊपर चढ़ते हैं । गिरने का नाम प्रतिपात और नहीं गिरने का नाम अप्रतिपात कहलाता है ।

१२५. प्रश्न : गुणस्थान के ज्ञान से क्या लाभ है ?

उत्तर : १) १३ वें व १४ वें गुणस्थानवर्ती ही अरहंत भगवान होते हैं । गुणस्थानातीत शुद्ध आत्मा ही सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं । इसतरह गुणस्थान के ज्ञान से ही सच्चे अर्थात् वीतराग एवं सर्वज्ञ भगवान का पक्का निर्णय होता है ।

२) तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवान के परम औदारिक शरीर के सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरती है । दिव्यध्वनि से ही यथार्थ तत्त्व स्पष्ट होता है । दिव्यध्वनि का विषय ही सच्चे शास्त्र में लिपिबद्ध रहता है । अतः गुणस्थान के ज्ञान से ही सच्चे शास्त्र/तत्त्व की जानकारी प्राप्त होती है ।

३) तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता प्रगट करके प्रचुर स्वसंवेदन के आनंद के भोगी ही सच्चे गुरु होते हैं । ऐसे गुरु छठवें-

सातवें गुणस्थानवर्ती रहते हैं अथवा ये महापुरुष आठवें गुणस्थान से उपरिम गुणस्थान में भी विराजते हैं । इसलिए गुणस्थान के ज्ञान से ही सच्चे साधु का स्पष्ट ज्ञान होता है ।

१२६. प्रश्न : गुणस्थान के ज्ञान से क्या मात्र देव, शास्त्र, गुरु का ही यथार्थ निर्णय होता है अथवा हमें व्यक्तिगत भी कुछ लाभ होता है ?

उत्तर : क्यों नहीं ? देव-शास्त्र-गुरु के सम्बन्ध में भी जो सच्चा निःशंक निर्णय एवं यथार्थ प्रतीति होती है, यह भी तो हमें ही व्यक्तिगत लाभ होता है, देव-शास्त्र-गुरु को नहीं ।

देव तथा गुरु के गुणस्थान की जानकारी के साथ हमें अपना स्वयं का गुणस्थान कौनसा है ? विराधक गुणस्थान से साधक गुणस्थानों की प्राप्ति अर्थात् मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होगी ? तथा हमें क्या करना आवश्यक है ? ह इन सबका ज्ञान होता है ।

P

प्रश्न : वस्तु के द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है तो पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आती है?

उत्तर : वस्तु 'द्रव्य' और 'पर्याय' ऐसे दो स्वभाव वाली है । उनमें से द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है, किन्तु पर्याय का स्वभाव 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' ऐसे दो प्रकार का है - अर्थात् पर्याय की अशुद्धता द्रव्य स्वभाव में से आई नहीं है; वह तो तत्समय की पर्याय का ही भाव है, द्वितीय समय में उस पर्याय का व्यय होने पर वह अशुद्धता भी मिट जाती है ।

पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता के सम्बन्ध में नियम यह है कि जब पर्याय द्रव्याश्रय से परिणमन करती है, तब शुद्ध और जब पराश्रय से परिणमन करती है तब अशुद्ध होती है; परन्तु वह अशुद्धता न तो पर में से ही आई है और न द्रव्यस्वभाव में से ही आई है ।

- ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ-१६०

अध्याय तीसरा

गुणस्थान

गुणस्थान : भूमिका

हमें/मुझे तो पर्याय में सिद्ध ही बनना है। गुणस्थानातीत जीव की अवस्था को सिद्ध कहते हैं। साध्यरूप सिद्ध अवस्था का यथार्थ ज्ञान के बिना सिद्ध परमेष्ठी का परम सत्य निर्णय नहीं हो सकता। तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली ही अरहंत परमेष्ठी है। अरहंत परमेष्ठी को जानना हो तो तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान का ज्ञान करना अति आवश्यक है।

दिव्यध्वनि से प्रसारित तत्त्व-प्ररूणा को ही शास्त्र कहते हैं। दिव्यध्वनि सयोगकेवली की ही होती है। अतः सम्यक् शास्त्र के निर्णय के लिए भी तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान को जानना जरूरी है।

सच्चे गुरु छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले होते हैं। यदि हमें सच्चे गुरु को सही रीति से जानना हो तो छठवें-सातवें गुणस्थान के स्वरूप का जानना अपरिहार्य है। इतना ही नहीं मोक्षमार्ग को प्रगट करना हो तो भी गुणस्थान की जानकारी हमें करना ही चाहिए। ऐसा ही भाव पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में स्पष्ट किया है -

इह विचारि संक्षेप सौं, गुणस्थानक रस चोज ।

वरनन करे बनारसी, कारन शिवपथ खोज ॥

अर्थात् - यह सोचकर पण्डित बनारसीदासजी शिवमार्ग खोजने में कारणभूत गुणस्थानों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

इसलिए हम गुणस्थान का ज्ञान करने का प्रयास करते हैं।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार गाथा ३ व ८ में गुणस्थान की परिभाषा शास्त्रानुसार आगे दी है ह

संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।
जेहिं दु लख्खिज्जन्ते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्धिद्वा सव्वदरसीहिं ॥

मोह और योग के निमित्त से जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण की होनेवाली हीनाधिक अवस्था को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान के चौदह भेद निम्न प्रकार हैं ह

१. मिथ्यात्व, २. सासादनसम्यक्त्व, ३. सम्यग्मिथ्यात्व/मिश्र,
४. अविरतसम्यक्त्व, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत,
८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांतमोह,
१२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली, १४. अयोगकेवली।

चौदह गुणस्थानों के नाम आचार्यश्री नेमिचंद्र रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड की ९ व १० गाथाओं में हैं ह

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य ।

विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥

उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलजिणो अजोगी य ।

चउदस जीव समासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥

मोह और योग की मुख्यता से गुणस्थानों का विभाजन ह

१. पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान पर्यंत चार गुणस्थान दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय-अनुदय की मुख्यता से हैं।

२. पाँचवें से बारहवें गुणस्थान पर्यंत आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उदय-अनुदय की मुख्यता से हैं।

३. तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान और योग - इन दोनों की सद्भाव की मुख्यता से है।

४. चौदहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान का सद्भाव और योग का असद्भाव की मुख्यता से है।

१

मिथ्यात्व गुणस्थान

आचार्य श्री नेमिचन्द्र स्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १५ में मिथ्यात्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्गुणं तु तच्च-अत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं ॥

दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व कर्म के उदय के समय में अर्थात् निमित्त से होनेवाले जीव के अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

भेद - १ एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान - ये मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं।

२. अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व ये भी २ भेद हैं। अनादिकालीन विपरीत मान्यता को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व की पोषक नवीन गृहीत विपरीत मान्यताओं को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

३. क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिकवादी - ये ४ भेद भी हैं। इनके ही उत्तर भेद ३६३ हैं।

शब्दार्थ - मिथ्यात्व शब्द का अर्थ विपरीतता। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण के विपरीत परिणामन को ही यहाँ “मिथ्यात्व” कहा है। विपरीत = उल्टा। सम्यक्त्व - (मार्गणा की अपेक्षा से) - मिथ्यात्व सम्यक्त्व।

चारित्र - मिथ्याचारित्र। यहाँ श्रद्धा विपरीत होने से चारित्र भी मिथ्या ही रहता है।

काल - जघन्य-अन्तर्मुहूर्त। उत्कृष्ट - अनादि अनन्त।

अभव्य की अपेक्षा से मिथ्यात्व का काल अनादि अनन्त है। भव्य

(एक जीव) की अपेक्षा अनादि सांत काल तथा भव्य (नाना जीवों) की अपेक्षा अनादि-अनन्त काल होता है।

सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा किंचित् न्यून अर्धपुद्गल-परावर्तन।

दूरानुदूर भव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त है।

पर्याय की अपेक्षा सादि-सान्त काल है।

गमनागमन - यहाँ से ऊपर चौथे, पाँचवें या सातवें गुणस्थान में गमन होता है। तथा सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) मोहनीय कर्म की सत्ता सहित सादि मिथ्यादृष्टि जीव का तीसरे गुणस्थान में भी गमन होता है।

छठवें, पाँचवें, चौथे या तीसरे, दूसरे गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान में आगमन हो सकता है। सासादनवाले का आगमन मिथ्यात्व में ही होता है।

विशेषताएँ - १. एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत तथा लब्ध्यपर्याप्त, (संमूर्च्छन मनुष्य आदि) जीव मिथ्यात्वी ही होते हैं।

२. इस गुणस्थानवर्ती सभी जीव बहिरात्मा ही हैं।

३. कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के सभी उपासक मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

४. मिथ्यादृष्टि मनुष्य गर्भ से आठ वर्ष पर्यंत मिथ्यात्व नष्ट करने में असमर्थ होता है। संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्तक तथा संमूर्च्छन तिर्यच अंतर्मुहूर्तकाल पर्यंत मिथ्यात्व नष्ट करने में असमर्थ रहते हैं। देव, नारकी अंतर्मुहूर्त पर्यंत असमर्थ रहते हैं।

प्रश्न : मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती साधक किस साधना द्वारा अविरत सम्यक्त्व आदि उपरिम गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं ?

उत्तर : मिथ्यादृष्टि जीव स्व-पर भेदज्ञानपूर्वक अपने त्रिकाली निज शुद्धात्मा के आश्रयरूप महान अपूर्व पुरुषार्थ से दर्शनमोहादि कर्म का भी अभाव होने से सम्यग्दर्शनादि प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती साधक उपरिम गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं।

२

सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १९ में सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलि ति वा सेसे ।

अणअण्णदरूदयादो णासियसम्मो ति सासणक्खो सो ॥

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल में से जब जघन्य एक समय या उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे, उतने काल में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय के उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर श्रद्धा की जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं ।

शब्दार्थ - स+आसादन = सासादन । स = सहित । आसादन = विराधना, विनाश, घात । इसप्रकार सासादन शब्द का अर्थ सम्यक्त्व का नाश करनेवाला होता है ।

इसका ही अपर नाम सासन भी है । स + आसन = सासन । स = सहित, आसन = सम्यक्त्व की विराधना । सम्यक्त्व विराधक परिणाम ही सासन है । सम्यक्त्व विराधक जीव की सम्यक्त्वरूपी रत्न पर्वत-शिखर से पतित मिथ्यात्वरूप भूमि के सन्मुख दशा को सासादन कहते हैं ।

सम्यक्त्व = (मार्गणा की अपेक्षा) सासादन सम्यक्त्व ।

चारित्र - मिथ्याचारित्र, क्योंकि यहाँ सम्यग्दर्शन का नाश हो गया है ।

काल - जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल छह आवली । (एक समय से छह आवली पर्यन्त मध्य के सभी विकल्प ।)

गमनागमन - यहाँ से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही गमन होता है, अन्य किसी भी ऊपर के गुणस्थानों में नहीं ।

सासादन में - छठवें, पाँचवें, चौथे गुणस्थान से आगमन होता है ।

विशेषता - (१) इस गुणस्थान में मरण कर नरक नहीं जाता है ।

(२) तीर्थंकर, आहारकद्विक प्रकृति की सत्ता सहित जीव इस गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता ।

(३) द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव के सासादनसम्यक्त्वरूप भाव/परिणाम को पारिणामिक भाव भी कहते हैं; क्योंकि जीव का जो परिणाम कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा से रहित होता है, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । इस परिभाषा के अनुसार सासादन सम्यक्त्वरूप परिणाम दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा के बिना ही होता है । अतः दर्शनमोहनीयकर्म की अपेक्षा इस दूसरे गुणस्थान के भाव को पारिणामिक भाव भी कहते हैं ।

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान पर्यंत के चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं । दूसरे गुणस्थान में दर्शनमोहनीय के उदयादि की अपेक्षा नहीं हैं, अतः दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा यहाँ पारिणामिकपना घटित होता है । जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया हो, वहाँ उस अपेक्षा से समझ लेना चाहिए ।

प्रश्न : सासादन गुणस्थानवर्ती जीव विपरीत अभिप्राय से दूषित है; इसलिए उसे सासादनसम्यक्त्व नहीं कहना चाहिए ।

उत्तर : यहाँ सम्यक्त्व कहने का कारण मात्र यह है कि वह पहले सम्यक्त्वी था; इसलिए भूतनैगमनय की अपेक्षा उसे सम्यक्त्व की संज्ञा बन जाती है । वह काल भी अभी सम्यक्त्व का चल रहा है एवं दर्शनमोहनीय का यहाँ उपशम ही है । जैसे परीक्षार्थी को पेपर देने का समय तीन घंटे का है और कोई विद्यार्थी दो घंटे में पेपर लिखकर घर चला जा तो भी शेष एक घण्टा काल पेपर का काल ही कहा जायेगा ।

३

सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान

आचार्य श्री नेमिचन्द्रस्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २१ में सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।

ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥

सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के समय में अर्थात् निमित्त से गुड़ मिश्रित दही के स्वाद के समान होनेवाले जात्यन्तर परिणामों को सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं ।

सम्यक्त्व = (मार्गणा की अपेक्षा) सम्यग्मिथ्यात्व ।

चारित्र - मिथ्याचारित्र; क्योंकि इस गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं है ।

काल - अंतर्मुहूर्त (जघन्य-छोटा मध्यम अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट-बड़ा मध्यम अंतर्मुहूर्त ।

गमनागमन - यहाँ से ऊपर गमन चौथे में तथा नीचे की ओर गमन मिथ्यात्व में होता है ।

पहले, चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान से ही यहाँ सम्यग्मिथ्यात्व में आगमन होता है ।

विशेषता - १. यहाँ जीव मरण नहीं करता ।

२. यहाँ जीव का मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता ।

३. यहाँ जीव नया आयुर्कर्म का बंध भी नहीं करता ।

४. यदि तीसरे गुणस्थान में आने के पहले मिथ्यात्व के साथ आयुबंध किया हो, तो मिथ्यात्व गुणस्थान में जाकर और सम्यक्त्व के साथ आयुबंध किया हो, तो अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में जाकर मरण करता है ।

५. यहाँ संयम व संयमासंयम ग्रहण करने के परिणाम नहीं होते ।

६. तीर्थकर प्रकृति की सत्तावाला जीव इस गुणस्थान में नहीं आता ।

P

४

अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २६ एवं २९ में अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान की परिभाषाएँ निम्नानुसार दी है ह

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।

बिदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य ॥

अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म के उदय से असंयत होने पर भी पाँच, छह या सात (अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शनमोहनीय की तीन) प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की दशा में होनेवाले जीव के औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भावों को अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं ।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि ।

जो सद्वहदि जिणुत्तं, सम्माइट्टी अविरदो सो ॥

जो परिणाम, सम्यग्दर्शन से सहित हो; परन्तु इन्द्रिय-विषयों से और त्रस-स्थावर की हिंसा से अविरत हो अर्थात् एकदेश या सर्वदेश किसी भी प्रकार के संयम से रहित हो, उस परिणाम को अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं ।

अविरति का स्पष्टीकरण -

पंचेन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति और षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति - ये अविरति के बारह भेद हैं । उपर्युक्त बारह प्रकार की अविरति का किंचित भी त्याग इन जीवों को नहीं होता; परन्तु अविरति में प्रवृत्ति हेयबुद्धि से रहती है तथा आगमानुसार सदाचार तो अवश्य होता ही है ।

सम्यक्त्व - औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में से एक ।

चारित्र – सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घातक अनन्तानुबंधी-चतुष्क चारित्र मोहनीय कषाय-कर्म का अभाव होने से आंशिक वीतरागतामय सम्यक्त्वाचरण चारित्र (कहीं-कहीं इसी को स्वरूपाचरण-चारित्र भी कहा है) वह होता ही है। तथापि देशचारित्र आदिरूप वीतरागता नहीं होने के कारण अविरति कहते हैं। फिर भी यहाँ सामान्य गृहस्थ योग्य सदाचारी प्रवृत्ति होती ही है।

काल – औपशमिक सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। (जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, लेकिन जघन्य काल से उत्कृष्ट काल संख्यात गुणा है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल ६६ सागर है। तथा ६६ सागर के बाद एक अन्तर्मुहूर्त के लिए मिश्र गुणस्थान में आकर पुनः क्षायोपशमिक के साथ ६६ सागर रह सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्व का काल सादि अनन्त।

गमनागमन – यहाँ से ऊपर पाँचवें और सातवें में तथा नीचे तीनों गुणस्थानों (पहले, दूसरे, तीसरे) में गमन होता है।

पहले, तीसरे, पाँचवें तथा छठवें गुणस्थान से यहाँ आगमन होता है।

उपशम श्रेणी की अपेक्षा उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानों में मरण हो जाय तो सीधे चौथे में आता है अर्थात् मरण के अन्त समय पर्यंत तो श्रेणी का वही गुणस्थान रहता है, किन्तु विग्रहगति में प्रथम समय से ही चौथा गुणस्थान हो जाता है।

विशेषता – १. इस गुणस्थान से ही विशिष्ट प्रशस्त-राग के कारण तीर्थकर प्रकृति का बंध प्रारंभ हो सकता है।

२. इस गुणस्थान से ही पारमार्थिक-सुख प्रगट होता है।

३. यहाँ से जीव को सम्यक्त्व के कारण अन्तरात्मा संज्ञा प्राप्त होती है।

४. यहाँ अविरत शब्द अन्त-दीपक है, अतः यहाँ तक सभी गुणस्थान

अविरतरूप ही हैं। जैसे – अविरत मिथ्यात्व, अविरत सासादन सम्यक्त्व, अविरत मिश्र; क्योंकि मिथ्यात्व से लेकर चौथे गुणस्थान पर्यन्त के सब जीव सामान्यतया अविरत ही है; तथापि प्रत्येक की अविरत में महान अन्तर है।

५. मिथ्यात्व के अभाव से अविरत सम्यग्दृष्टि को दृष्टि-मुक्त (श्रद्धा की अपेक्षा) कहते हैं।

६. भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति इसी गुणस्थान में होती है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए शुद्धात्मा के ध्यान को छोड़कर क्या अन्य कोई उपाय भी हो सकता है ? या एक मात्र उपाय शुद्धात्मा का ध्यान ही है ? स्पष्ट खुलासा कीजिए।

उत्तर : जिसप्रकार सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता का उपाय एक निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपाय भी एक निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये दोनों भाव आत्माश्रित वीतरागस्वरूप ही हैं और इन दोनों का निमित्तरूप से बाधक कर्म भी एक मोहनीय-दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय ही है। इसलिए इनकी प्राप्ति का उपाय भी एक आत्माश्रितपना ही है। इसकारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय भी एक निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है; अन्य नहीं।

व्रत-तप और सम्यक्त्व के संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २६१ का अंश महत्त्वपूर्ण है। “किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप, सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं और पहले-पीछे भी होते हैं। देवादिक की प्रतीति का तो नियम है, उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता; व्रतादिक का नियम नहीं है। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व; पश्चात् ही व्रतादिक को धारण करते हैं, किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं।”

५

देशविरत गुणस्थान

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३० में देशविरत गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ ॥

प्रत्याख्यानानावरण कषाय कर्म के उदय काल में अर्थात् निमित्त से पूर्ण संयमभाव प्रगट नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शनपूर्वक, अणुव्रतादि सहित तथा दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त होनेवाली वीतराग दशा को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

उक्त परिभाषा में “प्रत्याख्यानानावरण कषाय के उदय काल में” ऐसा वाक्य है तथा आगे कहा है कि “पूर्ण संयमभाव प्रगट नहीं होने पर भी।” इन कथनों का अर्थ यह हुआ कि प्रत्याख्यानानावरण कषाय के उदयकाल में आंशिक वीतरागता रूप देशसंयम होता है। अणुव्रतादि श्रावक के शुभोपयोगरूप व्रतों के पालन का भाव प्रत्याख्यानानावरण कर्म के उदय का कार्य है। जो कार्य कर्म के उदय का हो वह पुण्य परिणामरूप है, धर्मरूप नहीं हो सकता।

अन्य नाम – विरताविरत, संयमासंयम, देशसंयम, देशचारित्र, अणुव्रत इत्यादि।

भेद ग्यारह – प्रतिमाओं की अपेक्षा से देशविरति के ग्यारह भेद हैं।

वे इसप्रकार – दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, दिवामैथुनत्याग (रात्रिभोजन त्याग), ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रह त्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट आहारत्याग प्रतिमा।

उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा के भी एक वस्त्रधारी श्रावक और दो

वस्त्रधारी श्रावक ऐसे दो भेद हैं। ऐलक एक वस्त्रधारी श्रावक हैं तथा क्षुल्लक दो वस्त्रधारी श्रावक हैं। इसी प्रतिमा के धारक महिला को आर्जिका कहते हैं।

सम्यक्त्व – औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक में से कोई एक।

चारित्र – पंचम गुणस्थान में संयमासंयम चारित्र होता है। यहाँ अप्रत्याख्यानानावरण कषायों के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उनके ही भविष्य में उदय होने योग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्यानानावरण कषाय का उदय रहता है, अतः कर्म का क्षायोपशमिकपना बनता है।

काल – जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त।

उत्कृष्टकाल मनुष्य की अपेक्षा आठ वर्ष एक अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष है तथा सम्मूर्च्छन तिर्यच की अपेक्षा एक अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष है।

गमनागमन – ऊपर सातवें गुणस्थान में तथा नीचे चौथे, तीसरे, दूसरे व पहले गुणस्थान में गमन होता है।

पहले, चौथे और छठवें गुणस्थान से इसमें आगमन होता है।

विशेषता – १. सर्वार्थसिद्धि आदि एक भवावतारी देवों के सम्यक्त्व, बालब्रह्मचर्यत्व, द्वादशांगज्ञानत्वादि की उपस्थिति में तथा उनके जनसामान्य पंच पाप तथा स्थूल विषय-कषाय, असि-मसि आदि हिंसाजन्य षट् कर्म दिखाई नहीं देने पर भी अंतरंग में एक कषाय चौकड़ी के अभाव में उत्पन्न वीतरागता होने से देशसंयम नहीं है; परन्तु असंयम ही है। और मनुष्य-तिर्यचों के उपर्युक्त प्रवृत्ति दिखाई देने पर भी अन्तरंग में सम्यग्दर्शन सहित दो कषाय चौकड़ी के अभाव में उत्पन्न वीतरागता विद्यमान होने से देशसंयम है।

२. स्वयंभूरमण समुद्र में प्रतिकूल वातावरण में भी शुद्धात्मानुभव

होने से असंख्यात तिर्यच अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हुए पंचम गुणस्थानवर्ती हैं।

कहीं भी सुख का सीधा संबंध व्यक्त वीतरागता से है; बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार त्याग-ग्रहण से नहीं है।

धर्म (वीतरागता) व्यक्त करने के लिए, धर्म की वृद्धि करने के लिए अथवा धर्म की परिपूर्णता के लिए बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता अकिंचित्कर है, यह विषय यहाँ स्पष्ट समझ में आ जाता है।

बाह्य प्रतिकूल परिकर धर्म प्रगट करने के कार्य में कुछ बाधक होता हो तो नरक में किसी भी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए; लेकिन असंख्यात नारकी सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं। नव ग्रैवेयक पर्यंत के स्वर्ग के सब देवों को बाह्य अनुकूलता के कारण सम्यग्दर्शन होना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं बन सकता; क्योंकि अनेक देव मिथ्यादृष्टि पाये जाते हैं।

उपसर्ग या परिषह में जकड़े हुए साधु की साधुता नष्ट होनी चाहिए और उनको उपसर्ग तथा परिषहजयी बनकर केवली होने का अवसर भी नहीं मिलना चाहिए; तथापि अनेक मुनिराज उपसर्ग तथा परिषहजयी होकर अंतरोन्मुख पुरुषार्थ करते हुए केवली होते हैं और अपनी अतीन्द्रिय अनन्तसुखरूप पर्याय को प्रति समय प्रगट कर ही रहे हैं।

धर्म की क्रिया तो आत्मा की अपनी स्वाधीन और स्वतंत्र क्रिया है, उसका बाह्य अन्य द्रव्यों की क्रिया से कुछ भी संबंध नहीं है।

३. यहाँ संयम शब्द आदि-दीपक है। यहाँ से लेकर उपरिम सभी गुणस्थानों में संयम पाया जाता है।

४. असंयम शब्द को अंत दीपक समझना चाहिए; क्योंकि पंचम गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में असंयम होता ही नहीं। इसे समझने के लिए प्रथम चार गुणस्थानों के साथ असंयम शब्द जोड़कर समझना उपयोगी हो जाता है। जैसे ह्य मिथ्यात्व असंयम, सासादनसम्यक्त्व असंयम, मिश्र असंयम आदि।

प्रमत्तविरत गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३२ में प्रमत्तविरत गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

संजलण-णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।

मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो।।

जो (तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक) वीतराग परिणाम, सम्यक्त्व और सकल व्रतों से सहित हो; किंतु संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय के तीव्र उदय निमित्त, प्रमाद सहित हो; उसे प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं।

नाम अपेक्षा विचार ह

प्रमत्तसंयत, विरत, संयम, सकलसंयम, सकल चारित्र इत्यादि अनेक नाम हैं। मोक्षसाधक मुनिजीवन में यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान नियम से होता ही है। छठवें गुणस्थान की प्राप्ति के बिना कोई जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रमत्तसंयत का स्पष्टीकरण - प्रमत्त+संयत = प्रमत्तसंयत। प्र = प्रकृष्ट। मत्त = मदयुक्त-असावधान। संयत = संयम।

सकल संयमरूप वीतरागता प्रगट हो जाने से संयत हो जाने पर भी संज्वलन कषायों के उदय में विकथा आदि पंद्रह प्रमादों में प्रवृत्ति होने से स्वरूप में असावधान वृत्ति हो जाने के कारण प्रमत्त संयत है।

सम्यक्त्व - औपशमिक आदि तीनों सम्यक्त्व में से कोई भी एक सम्यक्त्व रहता है।

चारित्र - प्रमत्त गुणस्थान में क्षायोपशमिक चारित्र होता है, वह इस प्रकार है - यहाँ प्रत्याख्यानावरण कषाय के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उनका ही भविष्य में उदय आने योग्य स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और संज्वलन कषाय और नोकषायों का भूमिका के अनुसार तीव्र उदय होता है। इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम घटित होता है।

काल – मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त। जब छठवें गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में पतन होता है, तब ही उत्कृष्टकाल घटित होता है।

गमनागमन – यहाँ से ऊपर की ओर गमन मात्र सातवें में तथा नीचे की ओर गमन नीचे के पाँचों गुणस्थानों में हो सकता है। सातवें गुणस्थान से ही इसमें आगमन होता है।

विशेषता – १. गुणस्थान शुद्ध परिणति युक्त शुभोपयोगरूप है। यद्यपि यह दशा मुनिजीवन में अवश्यभावी है, तथापि बंधकारक है। नाटक समयसार में इसे जगपंथ कहा है; क्योंकि यहाँ शुभोपयोग रहता है।

२. आचार्यकृत सभी साहित्य लेखन, उपदेश, दीक्षा-शिक्षा आदि प्रशस्त कार्य इसी गुणस्थान में होते हैं।

३. आहारक आदि ऋद्धियों का उपयोग इसी गुणस्थान में होता है।

४. यहाँ प्रयुक्त प्रमत्त शब्द अन्त दीपक है, अतः यहाँ पर्यन्त के सभी गुणस्थान प्रमत्त ही हैं।

५. अट्टाईस मूलगुणों का अखंड पालन करना ही सच्चा गुरुपना है। 'मूलगुण' यह शब्द ही हमें बताता है कि गुरुपने के मूलगुण हैं अर्थात् इनके बिना गुरुपना संभव ही नहीं है, जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता। इसतरह अट्टाईस मूलगुणों की अनिवार्यता आगम, तर्क तथा युक्ति से भी यथार्थ सिद्ध होती है।

६. जो कोई अट्टाईस मूलगुणों का आगमानुसार निर्दोष पालन करते हैं, वे सच्चे गुरु हैं; ऐसी परिभाषा चरणानुयोग के शास्त्रों की मुख्यता से करना उचित ही है। सच्चे मुनिपने के विषय को अन्य अपेक्षाओं से भी हमें समझना आवश्यक है। अतः कुछ स्पष्टीकरण करते हैं।

७. अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अनुदय के काल में ध्यान रहित तथा शुद्ध परिणति सहित अवस्था के समय मुनिराज जिसप्रकार के बाह्य आचरण में प्रवृत्त होते हैं; उस आचरण को अट्टाईस मूलगुण कहते हैं।

P

७

अप्रमत्तविरत गुणस्थान

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४५ में अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की कर्मोदय सापेक्ष परिभाषा निम्नानुसार दी है

संजलणणोकसायाणुदओ, मंदो जदा तदा होदि।

अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि॥

संज्वलन कषाय तथा नौ नोकषायों के मंद उदय के समय में अर्थात् निमित्त से प्रमादरहित होनेवाली वीतरागदशा को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने ही गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४६ में स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान की ध्यान की मुख्यता से भेदसहित परिभाषा निम्नानुसार भी दी है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है

णट्टासेसप्रमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।

अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥

जिनके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो गये हैं; जो व्रत, गुण और शीलों से मंडित हैं, जो निरंतर आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से युक्त हैं, जो उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ नहीं हुए हैं और जो ध्यान में लवलीन हैं; उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

भेद-परिभाषा – इसके दो भेद हैं – स्वस्थान-अप्रमत्त, सातिशय-अप्रमत्त। सर्वप्रमाद नाशक, व्रत-गुण शील से सहित अनुपशमक, अक्षपक, ध्यान में लीन मुनि दशा अप्रमत्त संयत है। इसी का अपर नाम निरतिशय-अप्रमत्त भी है।

चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय में निमित्त अधःप्रवृत्तकरणादि तीन करणों में से प्रथम अधःप्रवृत्तकरण दशा सातिशय अप्रमत्त-संयत गुणस्थान है।

अप्रमत्त का स्पष्टीकरण – पूर्वोक्त १५ प्रमादों की अभावरूप दशा अप्रमत्त दशा है। अप्रमत्त कहो अथवा ध्यानावस्था कहो दोनों का एक ही अर्थ है।

सम्यक्त्व – स्वस्थान अप्रमत्त अवस्था में औपशमिकादि तीनों सम्यक्त्व में कोई एक सम्यक्त्व रहता है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व में से कोई भी एक सम्यक्त्व रहता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ श्रेणी पर आरोहण करने का कार्य नहीं होता; क्योंकि चल, मल, अगाढ़ दोष बाधक बनते हैं।

चारित्र – क्षायोपशमिक चारित्र।

संज्वलन कषाय चौकड़ी के तीव्र उदय के स्थान पर मंद उदय इतना मात्र परिवर्तन कर देने पर पूर्वोक्त (छठवें गुणस्थान के) क्षयोपशमवत् यहाँ भी घटित होता है।

काल – मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय।

उत्कृष्ट काल – अंतर्मुहूर्त।

गमनागमन – अप्रमत्त का ऊपर की ओर गमन आठवें में ही तथा नीचे की ओर गमन छठवें में ही होता है।

पहले, चौथे, पाँचवें, छठवें तथा श्रेणी से गिरते समय आठवें से भी यहाँ आगमन होता है। सातवें में से मरण के समय चौथे में ही गमन होता है।

विशेषता – सातिशय अप्रमत्त में चार आवश्यक होते हैं –

१. समय-समय प्रति अनंतगुणी-विशुद्धि।
२. स्थिति-बंधापसरण अर्थात् नवीन कर्म का बन्ध क्रमशः कम-कम स्थिति सहित बंधता है।
३. प्रशस्त-प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनंतगुणा बढ़ता है।
४. अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग समय-समय अनंतगुणा घटता है।
५. यहाँ अप्रमत्त शब्द आदि-दीपक है, अतः यहाँ से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थान अप्रमत्त ही हैं।

६. उपरिम समयवर्ती जीवों के परिणामों से निम्न समयवर्ती जीवों के परिणामों की सदृश-विसदृश स्थिति को अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं।

७. चारित्र मोहनीय के उपशम तथा क्षय के प्रसंग में अपूर्वकरण के सन्मुख शुद्धोपयोग परिणामों को अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं।

८. सातवें में मरण कर विग्रह-गति में चौथा गुणस्थान हो जाता है। अथवा मरण के पहले सातवें से ६, ५, ४ गुणस्थानों में आ कर मरण हो सकता है; परन्तु यह नियम नहीं है कि सातवें गुणस्थानवाला चौथे में ही आ कर मरण करे। क्योंकि सातवें गुणस्थान में भी मरण हो सकता है।

यहाँ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में तो प्रति समय अनंतगुणी वीतरागता बढ़ती ही जाती है। यदि सातिशय अप्रमत्तसंयत मुनिराज के यथायोग्य मात्र एक अंतर्मुहूर्त काल के असंख्यात समयों में समय-समय प्रति अनंतगुणी वीतरागता बढ़ती जाती है तो वह वीतरागता आगे कितनी बढ़ सकती है, इसका सामान्य बोध हमें आगम प्रमाण से हो जाता है। अनंत का प्रत्यक्ष ज्ञान तो मात्र सर्वज्ञ भगवान को ही होता है।

वीतरागता के अनंतगुणी वृद्धि का एवं कषाय के उत्तरोत्तर हानी/हीन हीन होने का यह क्रम जीव जब जक पूर्ण वीतरागतारूप नहीं परिणमता है तब तक अर्थात् ११ वें या १२ वें गुणस्थान पर्यंत लगातार चलता ही रहता है।

इसके फलस्वरूप स्वभाव में विशेष मग्नता और प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग मुनिप्रवर करते रहते हैं।

प्रश्न : बारहवें गुणस्थान से आगे वीतरागता में अनंतगुणी वृद्धि क्यों नहीं होती ?

उत्तर : बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही वीतरागता परिपूर्ण प्रगट हो गयी है तो अब आगे बढ़ने के लिए कुछ अवकाश बचा ही नहीं है। अतः पूर्ण वीतराग होने पर अनंतगुणी विशुद्धिरूप पूर्ण वीतरागता सतत अखंड और अविचलरूप से अनन्त काल पर्यंत बनी ही रहती है।



अपूर्वकरण गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५० में अपूर्वकरण गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

अंतोमुहुत्त कालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।

पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं सम्मिल्लियइ ॥

अधःप्रवृत्तकरण संबंधी अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण कर प्रति समय अनंतगुणी शुद्धि को प्राप्त हुए परिणामों को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इसमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती।

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धिसंयत गुणस्थान है।

भेद - पूर्वोक्त चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के (४ अप्रत्याख्यानावरण, ४ प्रत्याख्यानावरण, ४ संज्वलन, ९ नोकषाय) उपशम तथा क्षय की अपेक्षा से इस गुणस्थान के भी उपशमक और क्षपक - दो भेद होते हैं।

अपूर्वकरण-प्रविष्ट शुद्धिसंयत संबंधी स्पष्टीकरण -

शब्दार्थ - अपूर्वकरण - अ = नहीं, पूर्व = पहले, अपूर्व = अत्यन्त नवीन, करण = परिणाम अर्थात् पूर्व में कभी भी प्रगट नहीं हुए ऐसे अत्यन्त नवीन शुद्ध परिणाम।

प्रविष्ट = प्रवेश प्राप्त, शुद्धि = शुद्धोपयोग, संयत = स्वरूप में सम्यक्त्या लीन,

चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम और क्षय में निमित्त होने वाले, पूर्व में अप्राप्त, विशिष्ट वृद्धिगत, शुद्धोपयोग परिणाम युक्त जीव अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धिसंयत है।

सम्यक्त्व - द्वितीयोपशम तथा क्षायिक-सम्यक्त्व में से कोई एक।

चारित्र - चारित्र मोहनीय का पूर्ववत् (तीव्र स्थान पर मंदतर मात्र परिवर्तन करके छठवें गुणस्थानवत्) क्षयोपशम होने के कारण यहाँ क्षायोपशमिक चारित्र है। तथा उपशम व क्षपक श्रेणी का आरोहक होने से यहाँ क्रमशः उपचार से औपशमिक अथवा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है।

काल - अंतर्मुहूर्त और मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय।

गमनागमन - यहाँ से ऊपर की ओर गमन नौवें गुणस्थान में, नीचे की ओर गमन श्रेणी से गिरते समय सातवें में गमन होता है।

मरण के बाद विग्रह गति में चतुर्थ गुणस्थान में भी गमन होता है।

विशेषता - १. प्रतिसमय जीव की पर्याय में अनंतगुणी-विशुद्धि होती है। (यहाँ विशुद्धि का अर्थ वीतरागता एवं पुण्य परिणाम भी लेना)

२. पूर्वबद्ध कर्मों का असंख्यात गुणा स्थितिकांडघात होता है।

३. नवीन स्थितिबंध कम स्थिति-अनुभागवाला होता है।

४. वृद्धिगत वीतराग परिणाम एवं कषाय की मंदता से पूर्वबद्ध कर्मों का प्रतिसमय असंख्यातगुणा अनुभाग-कांडकघात होता है।

५. प्रतिसमय पूर्वबद्ध कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होती है।

६. गुण संक्रमण अर्थात् अनेक अशुभ प्रकृतियाँ शुभ में बदल जाती हैं। यह कार्य दसवें गुणस्थान पर्यंत चलता है।

७. भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान (भिन्न-भिन्न) ही होते हैं। गुणस्थान के नाम के अनुसार प्रतिसमय परिणाम अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं।

८. एक अर्थात् समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान तथा असमान-दोनों प्रकार के होते हैं।

९. यहाँ उपशम श्रेणीवाले का चढ़ते समय पहले भाग में मरण नहीं होता, अन्य भागों में मरण हो सकता है। उपशम श्रेणी से गिरते समय सभी भागों में मरण संभव है। क्षपक श्रेणीवालों का मरण नहीं, परन्तु चौदहवें गुणस्थान के अंत में निर्वाण ही होता है।

९

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५७ में अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

होति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्धइडकम्मवणा ॥

अत्यंत निर्मल ध्यानरूपी अग्नि शिखाओं के द्वारा, कर्म-वन को दग्ध करने में समर्थ, प्रत्येक समय के एक-एक सुनिश्चित वृद्धिगत वीतराग परिणामों को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

वास्तव में तो यह मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा असद्भूत व्यवहारनय से कथन करने की पद्धति है। सत्य वस्तुस्थिति तो यह है कि जब महामुनिराज अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ के बल से वीतरागभाव को विशेष बढ़ाते हैं, वीतरागता उत्तरोत्तर पुष्ट होती जाती है, तब उसके निमित्त से पूर्वबद्ध चारित्रमोहनीय कर्म के स्पर्धक अपने आप स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, संक्रमणादि-रूप होकर निरन्तर अकर्मरूप से परिणामित होते जाते हैं। इसी कार्य को “ध्यानरूपी अग्निशिखाओं ने कर्मवन को जला दिया” इन अलंकारिक शब्दों में आचार्यदेव ने कहा है।

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम अनिवृत्तिकरणबादरसांपराय (कषाय) प्रविष्ट शुद्धिसंयत गुणस्थान है।

भेद - उपशमक और क्षपक श्रेणी की अपेक्षा इसके तत्संबंधी ही दो भेद हैं - उपशमक अनिवृत्तिकरण और क्षपक अनिवृत्तिकरण।

अनिवृत्तिकरण बादरसांपराय प्रविष्ट शुद्धिसंयत का स्पष्टीकरण -
शब्दार्थ - अनिवृत्तिकरण-अ+निवृत्ति = अनिवृत्ति। अ = नहीं, निवृत्ति = भेद। करण = परिणाम, अनिवृत्तिकरण = भेद रहित-सुनिश्चित समान परिणाम।

बादर = स्थूल। सांपराय = कषाय। प्रविष्ट = प्रवेशप्राप्त, शुद्धि = शुद्धोपयोग, संयत = स्वरूप में सम्यक्तया लीन।

चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम-क्षय में निमित्त होनेवाले संज्वलन कषाय के मंदतम उदयरूप स्थूल कषाय के सद्भाव में सुनिश्चित, विशिष्ट-वृद्धिगत स्वरूपलीन, शुद्धोपयोग परिणाम युक्त जीव अनिवृत्तिकरण-बादर-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत है।

सम्यक्त्व - द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व इन दोनों में कोई एक।

चारित्र - क्षायोपशमिक चारित्र। उपचार से औपशमिक या क्षायिक चारित्र भी कहते हैं।

मोहनीय का पूर्ववत (तीव्र के स्थान पर मंदतम मात्र परिवर्तन करके छठवें गुणस्थान के समान) क्षयोपशम होने के कारण यहाँ क्षायोपशमिक-चारित्र है। औपशमिक-क्षायिक चारित्र संबंधी कथन अष्टम गुणस्थानवत् है।

काल - मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय। उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त। अगला जन्म वैमानिक देवों में ही होता है।

गमनागमन - यहाँ से ऊपर की ओर गमन दसवें गुणस्थान में तथा नीचे की ओर गमन आठवें गुणस्थान में होता है।

तथा आगमन आठवें गुणस्थान से और उपशम श्रेणी से गिरते समय दसवें गुणस्थान से भी होता है।

विशेषता - १. अनंतगुणी-विशुद्धि आदि आवश्यक कार्य अष्टम गुणस्थानवत् है।

२. चारित्र मोहनीय कर्म, बादर कृष्टि से सूक्ष्मकृष्टिरूप परिणामित होता है। इस कृष्टिकरण से सूक्ष्मलोभ कषाय के बिना शेष २० चारित्रमोहनीय प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय होता है।

३. भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सुनिश्चित, विसदृश तथा एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सुनिश्चित, सदृश ही होते हैं।

४. यहाँ बादर शब्द अन्त-दीपक हैं। यहाँ तक सभी गुणस्थान बादर कषायवाले ही होते हैं।

१०

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६० में सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा ।

सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि ॥

धुले हुए कौसुंभी वस्त्र की सूक्ष्म लालिमा के समान सूक्ष्म लोभ का वेदन करनेवाले उपशमक अथवा क्षपक जीवों के यथाख्यात चारित्र से किंचित् न्यून वीतराग परिणामों को सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहते हैं ।

इसका पूर्ण नाम सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयत है ।

भेद - उपशम और क्षपक श्रेणी की अपेक्षा इसके तत्संबंधी दो भेद हैं - उपशमक-सूक्ष्मसांपराय, क्षपक-सूक्ष्मसांपराय ।

सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट शुद्धिसंयत संबंधी स्पष्टीकरण - सूक्ष्म = अत्यन्त हीन अनुभाग । सांपराय = कषाय । प्रविष्ट = प्रवेश प्राप्त । शुद्धि = शुद्धोपयोग । संयत = स्वरूप में सम्यक्तया लीन । अत्यन्त हीन अनुभाग युक्त लोभ कषाय के वेदन सहित, विशिष्ट वृद्धिगत, स्वरूप में लीन, शुद्धोपयोग परिणामयुक्त जीव सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत है ।

सम्यक्त्व - द्वितीयोपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में से एक ।

चारित्र - क्षायोपशमिक चारित्र । उपचार से औपशमिक या क्षायिक-चारित्र भी कहते हैं ।

४ अप्रत्याख्यानावरण, ४ प्रत्याख्यानावरण, लोभ कषाय बिना संज्वलन कषाय त्रिक और नौ नोकषायों के उपशम अथवा क्षय के सद्भाव में सूक्ष्म लोभ के मंदतम उदय के समय होनेवाली कर्मों की

क्षयोपशम दशारूप है । इस क्षयोपशम के समय होनेवाली जीव की वीतराग दशा ही क्षायोपशमिक-चारित्र है ।

उपशम-क्षपक श्रेणी की अपेक्षा यहाँ उपचार से क्रमशः औपशमिक-क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है ।

काल - उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त और मरण की अपेक्षा जघन्य काल मात्र एक समय ।

गमनागमन - उपशमक का यहाँ से ऊपर की ओर गमन ग्यारहवें में ही तथा क्षपक श्रेणीवाले का बारहवें में ही होता है । उपशमक का श्रेणी से गिरते समय नीचे की ओर नवमें गुणस्थान में गमन होता है ।

यहाँ नवमें गुणस्थान से आगमन होता है । उपशमक का ग्यारहवें गुणस्थान से गिरते समय भी यहाँ आगमन होता है ।

उपशमक का मरण के बाद विग्रह गति में प्रथम समय में ही चतुर्थ गुणस्थान में गमन होता है ।

विशेषता - १. अनंतगुणी-विशुद्धि आदि आवश्यक कार्य अष्टम गुणस्थानवत् यहाँ भी होते हैं ।

२. यहाँ सूक्ष्म-लोभ-कषाय-चारित्र-मोहनीयकर्मोदय के समय सूक्ष्म कषाय औदयिक भाव के सद्भाव में भी मोहनीय कर्म का आस्रव-बंध नहीं होता है; क्योंकि सूक्ष्म लोभ परिणाम जघन्यरूप से परिणत हो गया है । (विशेष स्पष्टीकरण के लिए पंचास्तिकाय गाथा १०३ की टीका देखिए ।)

३. यहाँ ज्ञानावरणादि तीन घाति कर्मों का जघन्य स्थिति-अनुभागवाला आस्रव-बंध होता है ।

४. यहाँ सांपराय शब्द अन्त-दीपक है । अतः यहाँ तक के सभी गुणस्थान सांपराय अर्थात् कषाय सहित ही हैं ।

११

उपशांतमोह गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६१ में उपशांतमोह गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंत कसायओ होदि ॥

निर्मली फल से सहित स्वच्छ जल के समान अथवा शरदकालीन सरोवर-जल के समान सर्व मोहोपशमन के समय व्यक्त होनेवाली पूर्ण वीतरागी दशा को उपशांतमोह गुणस्थान कहते हैं ।

इसका ही अपर नाम उपशांत कषाय और पूर्ण नाम उपशांतकषाय-वीतरागछद्मस्थ है ।

उपशांतकषाय वीतरागछद्मस्थ संबंधी स्पष्टीकरण - उपशांत कषाय = दबी हुई कषाय । वीतराग = वर्तमान में सभी रागादि से रहित । छद्म = ज्ञानावरण-दर्शनावरण के सद्भाव में विद्यमान अल्प ज्ञान-दर्शन में, + स्थ = स्थित रहने वाला । अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण के सद्भाव में रहनेवाला ।

सर्व कषाय उपशांत हो जाने से वर्तमान में सर्व रागादि के अभावरूप, वीतरागता प्रगट होने पर भी ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम होने से छद्मस्थ = अल्पज्ञ ही है ।

सम्यक्त्व - द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व अथवा क्षायिक-सम्यक्त्व ।

चारित्र - औपशमिक यथाख्यात-चारित्र है ।

काल - उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त । यह उत्कृष्टकाल दो क्षुद्रभव प्रमाण है । मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है ।

गमनागमन - उपशांतमोह मुनिराज के निजशुद्धात्मसन्मुख पुरुषार्थ

की यहाँ तक ही प्रगति करने की योग्यता होने से ऊपर गमन नहीं होता । नीचे की ओर गमन दसवें गुणस्थान में होता है । मरण की अपेक्षा गमन चतुर्थ गुणस्थान में भी होता है ।

यहाँ उपशमक दसवें गुणस्थान से ही आगमन होता है ।

विशेषता - १. यहाँ ईर्यापथास्रव (सातावेदनीय का) ही होता है । सांपरायिकास्रव नहीं होता; क्योंकि कषाय-नोकषाय परिणाम का सर्वथा अभाव है । सूक्ष्मलोभरूप मोह का अभाव दसवें गुणस्थान के अन्त समय में हुआ है ।

२. औपशमिक भावों का सद्भाव यहाँ (उपशांतमोह) तक ही होता है ।

३. वीतराग शब्द आदि-दीपक है । यहाँ से ऊपर के सभी गुणस्थानवर्ती जीव वीतरागी ही होते हैं । इसके नीचे के अर्थात् चौथे गुणस्थान से दसवें तक सभी गुणस्थानवर्ती जीव मिश्र (सरागी + वीतरागी) और प्रथम से तीसरे गुणस्थान तक सब जीव मात्र सरागी ही होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थान से पतन के दो कारण हैं - कालक्षय और भव (आयु) क्षय । आयुक्षय से गिरनेवाला अक्रम से चौथे गुणस्थान में जाता है ।

कालक्षय से गिरते समय नीचे-नीचे के गुणस्थानों की प्राप्ति क्रमशः छोटे तक होती है । पीछे अनेक मार्ग हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थान के संबंध में विशेष :-

...बहुरि या प्रकार संक्लेश-विशुद्धता के निमित्त करि उपशांत कषाय तैं पड़ना-चढ़ना न हो; जातैं तहाँ परिणाम अवस्थित विशुद्धता लिए वतैं हैं । बहुरि तहाँ तैं जो पड़ना हो है, सो तिस गुणस्थान का काल भए पीछे नियम तैं उपशम काल का क्षय होइ, तिसके निमित्त तैं हो है ।

विशुद्ध परिणामनि की हानि के निमित्त तैं तहाँ तैं नाही पड़े हैं वा अन्य कोई निमित्त तैं नाही पड़े हैं - ऐसा जानना ।

लब्धिसार गाथा ३१० की संस्कृत टीका की पंडितप्रवर टोडरमलजी कृत सम्यग्ज्ञानचंद्रिका की भाषा टीका से ।

१२

क्षीणमोह गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचंद्र ने गोम्मटसार गाथा ६२ में क्षीणमोह गुणस्थान की परिभाषा निम्नप्रकार दी है ह

पिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
स्वीणकसायो भण्णादि, णिग्गंथो वीयरारोहिं ॥

स्फटिकमणि के पात्र में रखे हुए निर्मल जल के समान संपूर्ण कषायों के क्षय के समय होनेवाले जीव के अत्यंत निर्मल वीतरागी परिणामों को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं।

अन्य नाम - इसका अपर नाम क्षीण-कषाय गुणस्थान तथा पूर्ण नाम क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान है।

क्षीण-कषाय वीतराग छद्मस्थ संबंधी स्पष्टीकरण - क्षीण = क्षय, नाश, नष्ट, कषाय = राग-द्वेष आदि विकारी परिणाम, वीतराग = राग-द्वेष आदि सर्व विकारों से रहित, अत्यन्त निर्मल दशा। छद्मस्थ = ज्ञानावरणादि के सद्भाव में विद्यमान अल्पज्ञान-दर्शन।

सर्व कषायों के क्षय से पूर्ण निर्मल-वीतराग दशा प्रगट हो जाने पर भी ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम होने से मुनिराज छद्मस्थ-अल्पज्ञ ही है।

सम्यक्त्व - क्षायिक-सम्यक्त्व। अन्य किसी सम्यक्त्व के लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

चारित्र - क्षायिक यथाख्यातचारित्र; क्योंकि मोह परिणाम का सर्वथा क्षय/नाश, अभाव हो गया है।

काल - अंतर्मुहूर्त। यह अंतर्मुहूर्तकाल चार क्षुद्रभव प्रमाण है।

गमनागमन - यहाँ से गमन एकमात्र तेरहवें गुणस्थान में ही होता है। यहाँ आगमन क्षपक दसवें गुणस्थान से ही होता है।

विशेषता - १. मात्र साता वेदनीय का ईर्यापथास्रव ही होता है।

२. इसके अंतिम समय में तीन घातिया कर्मों का क्षय होता है।

३. औदारिक शरीरधारी छद्मस्थ जीवों के शरीर में निरन्तर अनन्त निगोदिया जीव विद्यमान रहते हैं; परन्तु क्षीण-कषाय छद्मस्थ जीव के प्रथम समय से ही प्रति समय अनन्त बादर निगोदिया जीवों का निकलना प्रारंभ होता है। इसके अन्तिम समय में सभी बादर निगोदिया जीवों के अभाव से अनंतरसमयवर्ती तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में जीव परमौदारिक शरीरधारी हो जाता है।

४. चतुर्थ गुणस्थान से यहाँ तक सभी जीव “अंतरात्मा” संज्ञक हैं।

५. “क्षीणमोह” शब्द आदि-दीपक हैं। यहाँ से उपरिम सभी जीव क्षीणमोही ही हैं। जैसे क्षीणमोही सयोगकेवली आदि।

६. यहाँ “छद्मस्थ” - शब्द अन्त-दीपक है। यहाँ तक सभी गुणस्थानवर्ती जीव छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञ ही होते हैं।

७. यहाँ बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही मुनिराज द्रव्य तथा भाव चारित्रमोहनीय से भी रहित होते हैं। इसलिए इनको मोहमुक्त कहना युक्ति तथा शास्त्रसम्मत भी है।

प्रश्न : बारहवें गुणस्थान में क्षीणमोही होते ही सर्वज्ञ हो जाना चाहिए था; इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर : ज्ञानावरणादि तीन घाति कर्मों की सत्ता व उदय ही सर्वज्ञ होने में निमित्तरूप में बाधक है; क्योंकि दसवें गुणस्थान में भी राग परिणाम से ज्ञानावरणादि का बंध हुआ था। तथा पूर्वकाल में बंधे हुए कर्मों की भी सत्ता है, उनका क्षय होते ही केवलज्ञान होता है।

तीन घातिकर्मों के नाश के लिये अंतर्मुहूर्त पर्यंत एकत्ववितर्क-शुक्लध्यान/शुद्धोपयोग का होना आवश्यक है।

मुनिराज वीतराग होने के बाद सर्वज्ञ होते हैं, यह सामान्य कथन है और पूर्ण वीतराग होने पर भी एक अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत एकत्ववितर्क-शुक्लध्यान/शुद्धोपयोग करने के बाद ही तीनों घातिकर्मों का क्षय होने से मुनिराज सर्वज्ञ होते हैं, यह कथन विशेष तथा सूक्ष्म है।

(विशेष स्पष्टीकरण के लिए पंचास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीका देखिये)

१३

सयोगकेवली गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६३-६४ में सयोगकेवली गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

केवलणाण दिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणिय-परमप्पववएसो ॥
असहायणाणदंसणसहिओ, इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥

घाति चतुष्क के क्षय के काल में औदयिक अज्ञान नाशक तथा असहाय केवलज्ञानादि नव लब्धिसहित होने पर परमात्म संज्ञा को प्राप्त जीव की योगसहित वीतराग दशा को सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं ।

अन्य नाम - इसके अरिहंत, अरहंत, अरुहंत, केवली, परमात्मा, सयोगी जिन, सकलपरमात्मा, परंज्योति इत्यादि अनेक नाम हैं ।

सम्यक्त्व - केवल क्षायिक सम्यक्त्व । अन्य सम्यक्त्व का तो अभाव ही है । क्षायिकसम्यक्त्व को केवलज्ञान के निमित्त से परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं ।

चारित्र - यथाख्यात चारित्र । अन्य चारित्र का तो अभाव ही है ।

काल - जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त । उत्कृष्ट काल गर्भ काल सहित आठ वर्ष तथा आठ अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व तथा मध्यमकाल के सभी विकल्प संभव हैं ।

गमनागमन - यहाँ से चौदहवें गुणस्थान में ही गमन होता है ।

बारहवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है ।

विशेषता - १. यहाँ केवलज्ञान संबंधित चारों ओर सुभिक्ष, आकाशगमन, कवलाहार का अभाव आदि अतिशय होते हैं ।

२. मनुष्य सामान्यवत्, रोग आदि असाताजन्य बाधायें नहीं होती ।
३. सयोग केवली जीव अनेक प्रकार के होते हैं । यथा-तीर्थकर केवली, मूक केवली, अंतःकृत केवली, उपसर्ग केवली, सामान्य केवली, समुद्घात केवली आदि ।

तीर्थकर केवली पाँच, तीन, दो, कल्याणक सहित भी होते हैं ।

तीर्थकरों का विहार-काल जघन्य वर्ष पृथक्त्व तथा उत्कृष्ट काल योग-निरोध काल बिना आयु समाप्ति पर्यंत होता है ।

४. इच्छा रहित उपदेश एक मात्र इसी गुणस्थानवर्ती तीर्थकर आदि केवलियों के होता है । तदर्थ समवशरण, गंधकुटी आदि देवकृत विशिष्ट व्यवस्था यहाँ ही होती है ।

तिर्थच-मनुष्य तथा देवगम्य दिव्यध्वनि २४ घंटे में ६-६ घड़ी पर्यंत, तीन या चार बार खिरती है ।

५. यहाँ इन्द्रियादि पर निमित्त निरपेक्ष-निःसहाय (स्वतः परिपूर्ण समर्थ) त्रिकालवर्ती लोकालोक को युगपत् जानने-देखनेवाले केवलज्ञान, केवलदर्शन होते हैं । इन दोनों का भी परिणमन युगपत् होता है ।

६. यहाँ से “परमात्मा” संज्ञा प्रारंभ होती है ।

७. सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेदों में से यहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है । क्षायिक सम्यक्त्व को ही केवलज्ञान के सद्भाव से परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं ।

८. यहाँ “सयोग” शब्द अन्त-दीपक है । यहाँ पर्यंत के सभी जीव योग सहित हैं । जैसे - सयोग मिथ्यात्व, सयोग सासादनसम्यक्त्व आदि ।

९. “केवली” शब्द आदि-दीपक है । सर्वज्ञता यहाँ प्रगट होती है और सिद्धावस्था में अनंत काल तक रहती है ।

१०. सर्व घाति कर्मों का अभाव होने से इन्हें “जीवन मुक्त” भी कहते हैं ।

१४

अयोगकेवली गुणस्थान

आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६५ में अयोगकेवली गुणस्थान की परिभाषा निम्नानुसार दी है ह

सीलेसिं संपत्तो, णिरूद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।

कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि ॥

सम्पूर्ण शील के ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्व आस्रव निरोधक, कर्म बंध रहित जीव की योगरहित, वीतराग, सर्वज्ञ दशा को अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं ।

अन्य नाम – अपर नाम सयोगी जिन को छोड़कर पूर्वोक्त तेरहवें गुणस्थानवत् सर्व नाम का प्रयोग यहाँ सम्भव है ।

सम्यक्त्व – क्षायिक सम्यक्त्व अर्थात् परमावगाढ़ सम्यक्त्व ।

चारित्र – परम यथाख्यात चारित्र ।

काल – पाँच ह्रस्व स्वरो (अ, इ, उ, ऋ, लृ) का उच्चारण काल पर्यंत अर्थात् अंतर्मुहूर्त ।

गमनागमन – यहाँ से सिद्धदशा के लिए ही गमन होता है । तेरहवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है ।

विशेषता – १. इस गुणस्थान के अंत समय में सब कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है ।

२. योगाभाव के कारण यहाँ ईर्यापथास्रव भी नहीं है ।

३. मुनि के ८४ लाख उत्तर गुण तथा शील संबंधी अठारह हजार भेदों की पूर्णता भी यहाँ ही होती है ।

४. पूर्ण संवर तथा पूर्ण निर्जरा भी यहाँ ही होती है ।

५. यहाँ “अयोग” शब्द आदि-दीपक है । उपरिम सिद्ध दशा अयोगरूप ही है ।

P

गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान

आचार्यश्री नेमिचंद्र ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६८ में गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान की परिभाषा निम्नप्रकार दी है ह

अट्टुविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्टुगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥

ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रहित, अनंतसुखामृतस्वादि, परम शांतिमय, मिथ्यादर्शनादि सर्व विकार रहित-निर्विकार, नित्य, सम्यक्त्व आदि आठ प्रधान गुण युक्त, अनंत शुद्ध पर्यायों से सहित, कृतकृत्य, लोकाग्रस्थित, वीतरागी, सर्वज्ञ निकल परमात्मा को सिद्ध भगवान कहते हैं ।

अन्य नाम – इनके सिद्ध, परमशुद्ध, कार्य-परमात्मा, लोकाग्रवासी, संसारातीत, निरंजन, निष्काम, साध्य-परमात्मा, परमसुखी, ज्ञानाकारी, चिरवासी इत्यादि अनेक नाम हैं । इन्हें देहमुक्त भी कहते हैं ।

सम्यक्त्व – क्षायिक सम्यक्त्व । चारित्र – परम यथाख्यात चारित्र ।

काल – सादि अनन्त काल ।

गमनागमन – चौदहवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है । आगे सदाकाल गमनागमन रहित है ।

विशेषता – १. यद्यपि अनन्तानन्त सिद्धों के ज्ञानादि अनन्तानंत गुणों की प्रगटता में किंचिदपि अंतर नहीं है, तथापि आकार-व्यंजनपर्याय में अन्तर होता है ।

२. भूतप्रज्ञापक नैगमनय से क्षेत्र, काल, आदि द्वारा भी इनमें भेद किया जाता है । यथा – विदेह क्षेत्र से मुक्त, भरतक्षेत्र से मुक्त इत्यादि ।

३. ये सिद्ध परमेष्ठी परम्परा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म-तीनों ही कर्ममलों से रहित हैं ।

४. सिद्ध-दशा की प्रगटता मनुष्य-क्षेत्र निवास के अन्तिम समय में ही होती है । तत्काल ही ऋजु गति से गमन कर सिद्धशिला के ऊपर लोकाग्र में जाकर अनंत-अनंत काल वहाँ ही स्थिररूप से विराजमान रहते हैं ।

५. आत्मगुणों की परिपूर्ण शुद्धिमय, विकासमय यही दशा है ।

P

गुणस्थानों से गमनागमन

मिथ्या मारग चारि, तीनि चउ पाँच सात भनि ।
दुतिय एक मिथ्यात, तृतीय चौथा पहला गनि ॥१॥
अव्रत मारग पाँच, तीनि दो एक सात पन ।
पंचम पंच सुसात, चार तिय दोय एक भन ॥२॥
छट्टे षट् इक पंचम अधिक, सात आठ नव दस सुनो ।
तिय अध उरध चौथे मरन, ग्यारह बार बिन दो मुनो ॥३॥

ह पण्डित द्यानतरायजी : चरचा शतक, छन्द-४४

इस छन्द का हिन्दी में भावार्थ इसप्रकार है ह

१. पहले गुणस्थान से ऊपर गमन के चार मार्ग हैं ह तीसरे, चौथे, पाँचवें और सातवें गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान में गमन हो सकता है ।
२. सासादन गुणस्थान से नीचे की ओर गमन का एक ही मार्ग है; पहले गुणस्थान में । सासादन से गमन एकमेव मिथ्यात्व में ही होता है ।
३. तीसरे मिश्र गुणस्थान से गमन के लिए कुल दो मार्ग हैं; ऊपर की ओर चौथे में तथा नीचे की ओर पहले में ।
४. चौथे गुणस्थान से गमन के पाँच मार्ग हैं ह ऊपर की ओर पाँचवें और सातवें में और नीचे की ओर तीसरे, दूसरे और पहले में ।
५. पाँचवें गुणस्थान से भी पाँच मार्ग हैं ह ऊपर की ओर सातवें में तथा नीचे की ओर चौथे, तीसरे, दूसरे और पहले में ।
६. छठवें गुणस्थान से छह मार्ग हैं ह ऊपर की ओर सातवें में तथा नीचे की ओर पाँचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे और पहले गुणस्थान में ।
७. उपशम श्रेणी के सन्मुख सातवें से तीन मार्ग हैं ह ऊपर की ओर आठवें में, गिरते समय नीचे की ओर छठवें में और मरण हो जाय तो विग्रह गति में चौथे में ।
८. उपशम श्रेणीवाले आठवें से तीन मार्ग हैं ह ऊपर की ओर नौवें में तथा नीचे की ओर सातवें में और मरण अपेक्षा चौथे में ।
९. उपशम श्रेणीवाले नौवें से तीन मार्ग हैं ह ऊपर की ओर दसवें में तथा नीचे की ओर आठवें में और मरण अपेक्षा चौथे में ।
१०. उपशम श्रेणीवाले दसवें से तीन मार्ग हैं ह ऊपर की ओर ग्यारहवें में तथा नीचे की ओर नौवें में और मरण अपेक्षा चौथे में ।
११. ग्यारहवें से दो ही मार्ग हैं ह नीचे की ओर दसवें में और मरण अपेक्षा चौथे में ।

व्यवहार की वास्तविकता

यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना । पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है । वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उस ही को जीव मानना । जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं – ऐसा ही श्रद्धान करना ।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं । निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उस ही को जीव वस्तु मानना । संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं, – ऐसा ही श्रद्धान करना ।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाये । परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिये आत्मा जो अपने भाव रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है । वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिये व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा ही श्रद्धान करना ।

– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५२

पवित्रता प्राप्त करने का उपाय

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ परमपवित्र ही हैं, विकृति मात्र पर्याय में है । पर जब पर्याय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेती है, तो वह भी पवित्र हो जाती है ।

पर्याय के पवित्र होने का एकमात्र उपाय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेना है । 'पर' के आश्रय से पर्याय में अपवित्रता और 'स्व' के आश्रय से पवित्रता प्रकट होती है । – धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ६८

दोनों नयों की सफलता

जीव का स्वरूप दो नयों से बराबर ज्ञात होता है। अकेले द्रव्यार्थिकनय या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता; इसलिए दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे, तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया? काहे में किया? और मात्र पर्याय को ही स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी? इसलिए दोनों नयों का उपदेश स्वीकार करके द्रव्य-पर्याय की सन्धि करने योग्य है।

द्रव्य-पर्याय की सन्धि का अर्थ क्या? पर्याय को पृथक् करके लक्ष में न लेते हुए, अन्तर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर एकतारूप निर्विकल्प-अनुभव करना ही द्रव्य-पर्याय की सन्धि है - यही दोनों नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए उसी के विकल्प में रुक जाए, तो वह नय की सफलता नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसमें एकाग्रता न करे तो वह भी नय की सफलता नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर दोनों के विकल्प तोड़कर पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन, अभेद, एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।

- पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी
(ज्ञानगोष्ठी, कवरपृष्ठ-६)

पर्याय की स्वतंत्रता

प्रश्न : शास्त्र में पर्याय को अभूतार्थ क्यों कहा है? क्या उसकी सत्ता नहीं है?

उत्तर : त्रिकालीस्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ कहा और पर्याय को अभूतार्थ कहा अर्थात् पर्याय है नहीं - ऐसा कहा। वहाँ पर्याय को गौण करके ही 'नहीं है' ऐसा कहा; परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि पर्याय सर्वथा है ही नहीं। इसी भाँति सम्यग्दृष्टि को राग नहीं, दुःख नहीं - ऐसा कहा; परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि वर्तमान पर्याय में राग-दुःख सर्वथा है ही नहीं। पर्याय में जितना राग है, उतना दुःख भी अवश्य है। जहाँ शास्त्र में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि के राग या दुःख नहीं है, सो वह तो दृष्टि की प्रधानता से कहा; किन्तु पर्याय में जितना आनन्द है, उतना भी ज्ञान जानता है और जितना राग है, उतना दुःख भी साधक को है; ऐसा ज्ञान जानता है। यदि वर्तमान पर्याय में होनेवाले राग व दुःख को ज्ञान न जाने तब तो धारणाज्ञान में भी भूल है। सम्यग्दृष्टि के दृष्टि का जोर बताने के लिए ऐसा भी कहा कि वह निरास्रव है; किन्तु यदि आस्रव सर्वथा न हो तब तो मुक्ति हो जाना चाहिए।

कर्ता-कर्म अधिकार में ऐसा कहा कि सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है उसका कर्ता पुद्गलकर्म है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है; तथा प्रवचनसार में ऐसा कहा कि ज्ञानी के जो राग होता है, उसका कर्ता आत्मा है, राग का अधिष्ठाता आत्मा है। फिर भी एकान्त माने कि ज्ञानी राग का - दुःख का कर्ता-भोक्ता नहीं है तो वह जीव नयविवक्षा को नहीं समझने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

एक पर्याय जितना अपने को मानना भी मिथ्यात्व है। तो फिर राग को अपना मानना, शरीर को अपना मानना, माता-पिता धनादि को अपना मानना तो महान मिथ्यात्व है। अहा हा! अपने को बहुत बदलना पड़ेगा। अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर ही आत्मसन्मुख जा सकोगे।

(ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ-१५७-१५८)

बन्ध में अबन्ध की अनुभूति

बन्धन तभी तक बन्धन है - जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंध स्वभावी आत्मा को भूलकर बंधन पर केन्द्रित हो रहा है।

वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बंधा हूँ' इस विकल्प से यह जीव बंधा है। लौकिक बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं।

बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है - पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ?

प्रश्न - बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे संभव है? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबंध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है?

उत्तर - सम्भव है। स्वीकारना तो सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबंध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बंधी ही नहीं।

स्वभाव में बंधन नहीं - इसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतंत्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है; क्योंकि अन्तर में स्वतंत्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन कटने में भी वही समर्थ कारण है।

तीर्थकर महावीर और उनका
सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-५७, ५८

दृष्टि का विषय

प्रश्न - ध्रुव स्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को अभेद करके दृष्टि का विषय मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर - ध्रुव द्रव्यस्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को एकमेक करने से दृष्टि का विषय होता है - ऐसा मानने वाले व्यवहार से निश्चय होना मानने वालों की भाँति ही मिथ्यादृष्टि है; उनका जोर पर्याय पर है, ध्रुव स्वभाव पर नहीं है।

सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य के साथ उत्पादरूप निर्मल पर्याय को साथ लेने से वह निश्चयनय का विषय न रहकर प्रमाण का विषय हो जाता है और प्रमाण स्वयं सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप द्रव्य है, प्रमाण की भाँति उभय-अंशग्राही नहीं है। यदि पर्याय को द्रव्य के साथ एकमेक किया जाये तो निश्चयनय का विषय जो त्रिकाली सामान्य है वह नहीं रहता, परन्तु प्रमाण का विषय हो जाने से दृष्टि में भूल है, विपरीतता है।

अनित्य नित्य को जानता है; पर्याय द्रव्य को जानती है; पर्यायरूप व्यवहारनिश्चयरूप ध्रुवद्रव्य को जानता है; भेद-अभेद द्रव्य को जानता है; पर्याय को जानने वाली अर्थात् विषयी है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य जानने वाली पर्याय का विषय है। यदि द्रव्य के साथ निर्मल पर्याय को मिलाकर निश्चयनय का विषय कहा जाये तो विषय करने वाली पर्याय तो कोई भिन्न नहीं रही। अतः पर्याय को विषयकर्ता के रूप में द्रव्य से भिन्न लिया जाये तभी विषय-विषयी दो भाव सिद्ध हो सकते हैं; इससे अन्यथा मानने से महाविपरीतता होती है।

श्रुतज्ञान की पर्याय वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान स्वयं पर्याय होने से व्यवहार है। वीतरागी पर्याय स्वयं व्यवहार है; परन्तु उसने त्रिकाली द्रव्यरूप निश्चय का आश्रय लिया होने से उस निर्मल पर्याय को निश्चयनय कहा है; परन्तु वह पर्याय होने से व्यवहार ही है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पर का लक्ष छोड़कर, राग का लक्ष छोड़कर, पर्यायका लक्ष छोड़कर, त्रिकाली द्रव्य का लक्ष करे तब वीतरागता प्रकट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्येय में पर्याय को साथ ले तो वह बात नहीं रहती ॥१५॥

- आत्मधर्म १ जनवरी, १९७७, पृष्ठ २४-२५

पात्रता

‘जो जीव निश्चय की उपासना करने को कटिबद्ध हुआ है, उसकी १. परिणति में पहले की अपेक्षा वैराग्य की अत्यन्त वृद्धि होती जाती है। २. उसे दोषों का भय होता है। ३. अकषायस्वभाव को साधने में तत्पर हुआ, वहाँ ४. उसके कषाय शांत होने लगते हैं। ५. उसकी कोई प्रवृत्ति या आचरण ऐसे नहीं होते कि रागादि का पोषण करें। पहले रागादि की मन्दता थी उसके बदले अब रागादि की तीव्रता हो तो वह स्वभाव की साधना के समीप आया है ऐसा कैसे कहा जाये? ६. अकेला ज्ञान-ज्ञान करता रहे किन्तु ज्ञान के साथ रागकी मन्दता होनी चाहिये, ७. धर्मात्मा के प्रति विनय-बहुमान-भक्ति-नम्रता-कोमलता होना चाहिये, ८. अन्य साधर्मियों के प्रति अन्तर में वात्सल्य होना चाहिये, वैराग्य होना चाहिये, ९. शास्त्राभ्यास आदि का प्रयत्न होना चाहिये... इस प्रकार चारों ओर के सभी पक्षों से पात्रता लाना चाहिये; तभी यथार्थ परिणमता है। वास्तव में, साक्षात् समागम की बलिहारी है; सत्संग में तथा संत-धर्मात्मा की छत्रछाया में रहकर उनके पवित्र जीवन को दृष्टि समक्ष ध्येयरूप रखकर, चारों ओर से सर्वप्रकार उद्यम करके अपनी पात्रता को पुष्ट करना चाहिये।

-वचनमृत सार, पृष्ठ-११-१२

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्रीमती शारदा जैन, भिण्ड	१,१००.००
२. श्री मोतीलालजी शाह, मुम्बई	१,००१.००
३. श्री चुन्नीलालजी जैन, इटावा	१,०००.००
४. श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	५०१.००
५. स्व. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
६. श्री भगवानदासजी जैन, सीकर	५००.००

कुल राशि : ४,६०३.००